

चन्द्रमित्रा

(मौर्य कालीन उपन्यास)

। । ।

लेखक

कवीन्दु बेनीप्रसाद वाजपेयी “मंजुल”

। । ।

प्रकाशक

हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180460

UNIVERSAL
LIBRARY

प्रकाशक—

गयाप्रसाद तिवारी, बी० काम०,
अध्यक्ष हिन्दुस्तानी पब्लिकेशन्स,
शाहगंज, इलाहाबाद ।

Checked 1965



Checked 1969

मुद्रक—

गयाप्रसाद तिवारी, बी. काम०.
अध्यक्ष नारायण प्रेस, नारायण बिल्डिंग्स.
शाहगंज, इलाहाबाद

हमारा प्रयत्न

अब हम भारतीय हीन होकर रहना अपने लिए महान् कलङ्क समझने लगे हैं। संसार के प्रगतिशील राष्ट्रों के साथ हम अपनी समानता का ही प्रयत्न नहीं करना चाहते, अपितु हम यह चाहते हैं कि हमारा भविष्य उतना ही चमत्कार पूर्ण तथा गौरवशाली हो जाय जितना कि अतीत था। अतीत को लेकर अपने भविष्य का निर्माण हमारा वर्तमान कार्यक्रम है।

अपने इस महान् उद्देश्य की सफलता का प्रधान साधन हमारा इतिहास है। इतिहास की ज्ञान-शून्यता ही हमारी समस्याओं की पूर्ति का बाधक हो रही है। इसी को मूल से नष्ट करके राष्ट्रोन्नति के सिद्धान्त को आदर्श मार्ग से अन्तिम लक्ष्य तक ले जाना हम अपना ध्येय बना चुके हैं और निकट भविष्य में अपनी इस सदभिलाषा को फलवती होने का स्वप्न भी देख रहे हैं। स्वप्न की सत्यता को प्रत्यक्ष कराना हमारे रचनात्मक कार्यों से ही संभव है। अतएव हमारी प्रगति में उत्तरोत्तर वृद्धि होनी आवश्यक है।

कुछ समय पूर्व इतिहास साहित्य का एक अंग हो चुका था किन्तु आधुनिक विज्ञान के युग में इसने विज्ञान से भी अपना सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। हमारे वे विचार जिनका संबंध इतिहास से था, इस समय अधिक प्रौढ़, प्रमाणयुक्त और यथार्थ हो रहे हैं। इतिहास के मूल-ग्रन्थों की आलोचना करना पहिले लोग आवश्यक नहीं समझते थे क्योंकि उन्हें पुरातत्व का कुछ भी ज्ञान न था। इतिहास के पठन-पाठन की रीतियों में जो परिवर्तन हुए हैं उनसे स्पष्ट है कि प्रत्येक काल के विद्वानों ने अपने युग के विचारों और रीतियों के अनुसार इतिहास की घटनाओं को हृदयंगम करने का प्रयत्न किया है।

कवि, दार्शनिक, सामाजिक तथा सिद्धान्तवादियों ने इतिहास का उपयोग विशेष रूप से किया है। यूनान के इतिहास-वेत्ता हिरोडोटस (Herodotus) की उक्ति है कि, इतिहासकार एक श्रेणी का महाकवि है जिसका उद्देश्य इतिहास के वीर-पुरुषों की गुण-गाथाएँ लिखकर जनता का मनोरञ्जन करना है। दूसरा यूनानी इतिहास-वेत्ता थ्यूसिडाइडीज़ (Theucidides) का कथन है कि “जो घटनाएँ घट चुकी हैं उनका यथार्थ ज्ञान होना हमारे लिए अत्यावश्यक है क्योंकि उसी प्रकार की घटनाएँ मानव-जाति के जीवन में बार बार हुआ करती हैं।”

प्राचीन सिक्कों, शिला और ताम्र पर अङ्कित लेखों तथा पुराकाल के भिन्न-भिन्न स्मृति-चिह्नों को खोज-खोज कर आधुनिक विद्वानों ने अधिकांश इतिहास की खोज कर ली है। प्राचीन भारत के इतिहास के पुनरुद्धार में पुरातत्व-विज्ञान सफलता को प्राप्त कर रहा है। शिला-लेखों और दान-पत्रों से इतिहास की सत्यता तथा ज्ञान को आविष्कृत करना पुरातत्व वेत्ताओं के श्लाघ्य परिश्रम का परिणाम है।

यदि मनुष्य की धारणा शक्ति नष्ट हो जाय जिसमें उसके पूर्व-काल के उपार्जित अनुभव संचित रहते हैं तो उसके ज्ञान-चक्षु के नष्ट होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता क्योंकि उसकी विचार-शक्ति ही नष्ट हो जाती है। इसी भाँति यदि इतिहास के ज्ञान को मनुष्य भूल जाता है तो वह भिन्न-भिन्न रूप के ऐतिहासिक अनुभवों के ज्ञान से शून्य हो जाता है और जीवन की जटिल समस्याओं को यथार्थ रूप से नहीं समझ पाता। इसी ज्ञान-शून्यता को मिटाने तथा इतिहास के प्रति रुचि उत्पन्न करके राष्ट्रोन्नति के प्रयत्नों को सफल बनाने का हमारा यह रचनात्मक कार्य है। आशा है, हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पूर्ण सहयोग प्रदान करने की कृपा अवश्य करेगी।

दीपावली
संवत् २००२ वि० }

गयाप्रसाद तिवारी

मौर्य कालीन ?

जी हाँ; मौर्यकालीन और इसलिए कि भारत की वर्तमान परिस्थिति में इसके विकास और हास का ज्ञान हमारे लिए अत्यावश्यक है ।

सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व भारत के पश्चिमोत्तर भाग में अनेक छोटे छोटे राष्ट्र तो थे किन्तु वे किसी प्रधान राजशक्ति के अधीन न थे । यह सत्य है कि उस समय तक मगध-साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी तथापि उपर्युक्त भाग के राष्ट्र उसमें सम्मिलित न थे । अन्य राष्ट्रों के सम्मिलित होने पर भी मगध अपने आन्तरिक विद्रोह के कारण इस योग्य न था कि सिकन्दर के आक्रमण से भारत की रक्षा कर सकता ।

उस समय के नन्दवंशी सम्राट लोकमत को अपने अनुकूल बना सकने में असमर्थ हो रहे थे । कुछ भी हो, सिकन्दर के आक्रमण का कोई स्थायी प्रभाव भारतीय सभ्यता पर नहीं पड़ा । यदि पड़ा होता तो उस समय के संस्कृत-साहित्य में इसका उल्लेख कहीं न कहीं अवश्य होता । यह एक ऐसा आक्रमण था जो आँधी की भाँति आया और उसी समय बिना किसी विशेष चिह्न को छोड़े ही चला गया ।

सिकन्दर के आक्रमण का एक मात्र परिणाम यह हुआ कि पूर्व और पश्चिम की जातियों में तब से परस्पर अधिक सम्पर्क होने लगा और भारत तथा यूरोप के बीच के मार्ग लोगों को विदित हो गये । भविष्य के लिए पश्चिमी एशिया में जो यूनानी राज्य स्थापित हुए उनके साथ भारत का विचार-परिवर्तन और व्यापारिक सम्बन्ध होना सम्भव हो गया ।

सिकन्दर के आक्रमण के समय और उसके पश्चात् भारत में आनेवाले यूनानी विद्वानों के लेख उस समय के इतिहास पर पूर्ण

प्रकाश डालते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र, मुद्राराक्षस, अशोक के शिलालेख, प्राचीन संस्कृत, बौद्ध और जैन ग्रंथ तथा उस समय के भग्नांश अवशिष्ट स्मारक-चिह्नों द्वारा हमें अधिकांश ज्ञान इस मौर्य काल का प्राप्त होता है। यदि हम इतिहास की इस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग यथोचित रूप से करने का प्रयत्न करें तो यह निश्चित है कि मौर्य-काल का सजीव चित्र हमें प्रत्यक्ष हो जायगा।

मौर्यवंश का प्रथम प्रतापशाली राजा चन्द्रगुप्त था। उसके पूर्वजों के सम्बन्ध का ज्ञान सन्देह पूर्ण है। साहित्यिक कथाओं से ज्ञात होता है कि नन्द की एक पत्नी का नाम मुरा था। मुरा जाति की शूद्रा थी। इसी से चन्द्रगुप्त का जन्म हुआ था। मुरा की सन्तान होने से चन्द्रगुप्त को मौर्य कहते थे। कतिपय विद्वानों का मत है कि चन्द्रगुप्त क्षत्रिय मौर्य-जाति का राजकुमार था।

प्राचीन बौद्ध ग्रंथों में बुद्ध के समय में “पिप्पलीवन की मौर्य जाति के प्रजातंत्र राज्य होने का उल्लेख पाया जाता है। हो सकता है कि चन्द्रगुप्त इसी प्राचीन मौर्य-जाति का ही नेता रहा हो। किसी कारण से मगध के नन्द राजा से चन्द्रगुप्त का वैमनस्य हो गया था। इसके पश्चात् उसने राजा नन्द के वंश का नाश करने का षडयंत्र रचा। इस षडयंत्र में उसे नीतिकुशल ब्राह्मण विष्णुगुप्त चाणक्य से अधिक सहायता प्राप्त हुई। नन्द के विरुद्ध चन्द्रगुप्त और चाणक्य इन दोनों का प्रथम प्रयत्न कदाचित् सफल नहीं हुआ। अतएव दोनों के दोनों मगध से पंजाब चले आये जहाँ चन्द्रगुप्त की भेंट यूनान के विजेता सिकन्दर से होती है। भारत से सिकन्दर के लौट जाने के एक वर्ष पश्चात् उसके जीते हुए प्रान्तों में विद्रोह प्रारंभ होता है। चाणक्य का सहायता से चन्द्रगुप्त ने पंजाब की जातियों को यूनानियों के विरुद्ध भड़का दिया और सिकन्दर की सेनाओं को पराजित कर उन्हीं की सहायता से पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर दी।

मगध के राजा को परास्त कर और मार कर चन्द्रगुप्त राजगद्दी

पर बैठा । पंजाब और सीमाप्रान्त यूनानियों के परास्त होने पर चन्द्र-गुप्त के अधिकार में आ गये थे । इसके बाद मगध का विशाल साम्राज्य उसके अधीन हो गया । उसने छः लाख सेना को लेकर भारत के अन्य राष्ट्रों पर आक्रमण किया तथा सम्पूर्ण भारत को जीत लिया ।

भारत के पश्चिमी प्रदेश सौराष्ट्र तक उसके अधीन हो गये । इन सब घटनाओं पर विचार करने से यह सिद्ध है कि चन्द्रगुप्त ने अपनी सेना और चाणक्य की प्रतिभा की सहायता से भारत में एक विशाल साम्राज्य की स्थापना कर ली थी ।

चन्द्रगुप्त के बाद बिन्दुसार जिसका दूसरा नाम “अमित्रघात” था, राजगद्दी पर बैठते हैं । १६वीं शताब्दी के एक तिब्बती लेख से ज्ञात होता है कि बिन्दुसार ने अपने साम्राज्य को एक समुद्र से दूसरे समुद्र तक विस्तृत किया । बिन्दुसार के राज्यकाल में मौर्य साम्राज्य का प्रताप बराबर बढ़ता गया । उसका पुत्र अशोक उसके बाद अक्षत साम्राज्य का अधिकारी होता है ।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अशोक अपने पिता के जीवन काल में तक्षशिला और उज्जैन का प्रान्तीय शासक रह चुका था । पिता की मृत्यु के बाद साम्राज्य के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में अशोक को अपने भाइयों के साथ झगड़ा करना पड़ा था । सम्राट् अशोक के राज्यकाल की एक ही राजनीतिक घटना है । वह है कलिंग-विजय । यद्यपि यह घटना देखने में साधारण सी है तथापि इसका प्रभाव केवल भारत वर्ष पर ही नहीं अपितु समस्त संसार पर पड़ता है ।

इस भयानक युद्ध का गंभीर प्रभाव अशोक के हृदय पर इतना पड़ा कि उसके “धर्म विजय” का सूत्रपात हो गया जो कि उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता गया । संसार के इतिहास के सब से बड़े महापुरुषों की गणना में सम्राट् अशोक का नाम प्रथम श्रेणी में रखा जाता है ।

अशोक के बाद के मौर्य राजा उसकी नीति को पुष्ट न कर सके । उसकी मृत्यु होते ही उसका विशाल साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा ।

दक्षिण में आन्ध्र देश, महानदी और गोदावरी के मध्य का कलिङ्ग देश दोनों ही मौर्य साम्राज्य से अलग हो गये । उसी प्रकार एक एक करके उसके साम्राज्य के प्रदेश स्वाधीन हो जाते हैं । पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवनों के निरन्तर आक्रमणों से मौर्य साम्राज्य की शक्ति अधिक शिथिल हो गई ।

अशोक के उत्तराधिकारियों में पतनोन्मुख साम्राज्य की रक्षा करने की कुछ भी योग्यता न थी । साम्प्रदायिकता के विचार भी प्रबल होने लगे थे । ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध परस्पर टकराने लगे थे । ऐसे संकट के समय में मौर्य वंश के अन्तिम राजा बृहद्रथ का अन्त क्यों और किस प्रकार होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में हम पाठकों की सेवा में उसी के सेनापति पुष्यमित्र की सहायिका “चन्द्रमित्रा” को ही उपस्थित कर रहे हैं किन्तु केवल एक उपन्यास के रूप में । कल्पना-शक्ति का उपयोग वहीं तक किया गया है जहाँ तक कला के दृष्टिकोण से आवश्यक था । त्रुटियों के लिए क्षमा प्रार्थी हैं ।

—बेनीप्रसाद वाजपेयी “मंजुल”

चन्द्रमित्रा—



कवीन्दु बेनीप्रसाद वाजपेयी “मंजुल”

चन्द्रमित्रा

१

“सुमना, सुनन्दा, सुनेत्रा तथा चन्द्रमित्रा—इनमें से तुम किसको अधिक सुन्दरी समझते हो ? स्मरण रखो कि पुरुषार्थ की सार्थकता इन्हीं को प्राप्त करने में है ।”

“किन्तु महाश्रमण* का उपदेश इनसे दूर रहने का है ।”

“हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, चुगली, कटु-भाषण, बकवास, लोभ, प्रतिहिंसा तथा झूठी धारणा—यदि इन सब असद् कर्मों से दूर रहकर हम प्रचलित व्यवस्था के अनुसार इनके पाने का प्रयत्न करते हैं तो महाश्रमण से भयभीत क्यों हों ?”

“तृष्णा का निषेध करना ही होगा । प्रिय विषयों और तत्सम्बन्धी विचारों के विकल्पों से जब तृष्णा छूट जाती है तभी तृष्णा का निरोध होता है ।”

“तुम्हें प्यास लगती है या नहीं ?”

“लगती अवश्य है ।”

*महाश्रमण—बौद्ध धर्म के सर्वप्रधान

“तुम कृप, सरिता या अन्य किसी जलाशय का अनुसंधान करना चाहते हो या नहीं ?”

“तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?”

“मेरा अभिप्राय बस इतना ही है कि बिना जल के प्यास नहीं बुझती ।”

“दुःख, दुःख का हेतु, दुःख का निरोध और दुःख निरोध का मार्ग, हमारे बौद्ध धर्म के यही चार आर्य-सत्य हैं । इनसे विचलित होना अपने धर्म से विचलित होना है ।”

“तो फिर यह प्रमाणित है कि इस समय तुम दुःखी हो ।”

“हाव, भाव, हेला, शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य तथा धैर्य का जहाँ नैसर्गिक रत्नाकर लहलहा रहा हो वहाँ का वायुमण्डल ही अत्यन्त आनन्दवर्द्धक हो जाता है, रत्नाकर की तरंगों का स्पर्श तो प्रत्यक्ष आनन्द का स्वरूप ही बन जाता है ।”

“जब ऐसा समझते हो तब व्यर्थ मैं आत्मा को क्यों दुःखी बनाते हो ?”

“हम बौद्ध आत्मा को तो मानते ही नहीं हैं ।”

“सुमना, सुनन्दा, सुनेत्रा तथा चन्द्रमित्रा—इनमें से किसी को मानते हो या नहीं ?”

“तुम इस प्रकार तर्क-कुठार से हमारे धर्म को क्यों आघात पहुँचा रहे हो ?”

“तुम मेरे मित्र हो । मित्र को आघात पहुँचाने वाला विषय मेरे दुःख का हेतु हो रहा है । दुःख के निरोध में स्वाभाविकता

का स्वागत होना चाहिए क्योंकि दुःख-निरोध का मार्ग नैसर्गिक रत्नाकर की लहरों में से किसी एक को पाकर धन्य होने में है। हमारे प्रेम-धर्म के यही चार आर्य सत्य हैं। बौद्ध-धर्म से प्रेम-धर्म कहीं श्रेष्ठ है। मित्र होने के नाते मैं तुम्हें उस धर्म से मुक्त करना चाहता हूँ जिसके कारण तुम प्रत्यक्ष आनन्द से वंचित हो रहे हो। यौवन का प्रथम विकास प्रत्यक्ष आनन्द दर्शन के लिए है और यौवन का अन्तिम हास परोक्ष मोक्ष दर्शन के लिए है। प्रत्यक्ष का अपमान करने वाला परोक्ष का अधिकारी होता ही नहीं। चलना हो तो मेरे साथ प्रत्यक्ष का आनन्द प्राप्त करने के लिए चले चलो। समय अधिक व्यतीत हो चुका है। बोलो, क्या निश्चय करते हो ? ”

“मैं उभय मार्ग का पथिक बनूँगा। बाहिरी आडम्बर भिक्षु का रहेगा और अन्तःकरण भोग के उपवन में विहार करेगा। मरने के बाद क्या होगा ? इस प्रश्न की जटिलता अब मेरे पास नहीं आने पायगी। प्राप्त मित्र को अमित्र बनाकर मित्रता का सम्बन्ध विच्छेद करना मैं मानवता विरोधी कार्य समझता हूँ। तुम जैसा कहोगे वैसा ही मैं करने को तैयार हूँ।”

“भाई अजित ! अब तुम तत्त्व के मार्ग पर आये। सम्राट् अशोक ने यदि तुम्हारे इस बौद्ध धर्म को न अपनाया होता तो इसका प्राधान्य असंभव था। बौद्ध-धर्म का अनुयायी होते हुए भी उसने सत्यता का संहार नहीं किया। तभी तो हम सब उसे आदर्श राजा के रूप में अब भी स्मरण कर रहे हैं। उसके एक एक शिला लेख देवी-देवताओं की प्रतिमाओं से भी अधिक

प्रतिष्ठा को प्राप्त हैं। अशोक का कथन है कि, “धर्म की वृद्धि केवल धर्म के नियम बनाने से नहीं हो सकती किन्तु जब मनुष्य अपने गुण-दोषों पर विचार करना सीख लेते हैं तभी उनका धार्मिक अभ्युदय होना संभव है।”

“जयसेन ! आज तुमने मेरे नेत्रों की शक्ति को और भी बढ़ा दिया है। जितना ही मैं अंधकार से घबड़ा रहा था उतना ही अंधकार मुझे जकड़े हुए था, किन्तु सम्राट् अशोक के इस महान् वाक्य को उद्धृत करके इस समय तुमने मुझे उस प्रकाश को दिखा दिया है जिसके लिए मैं भिन्न बनकर दर दर ठोकरें खा रहा था।”

अजित बौद्ध धर्म की दीक्षा लेकर भिन्न बन चुका था। जिस तृष्णा को बौद्ध धर्म में ही नहीं अपितु संसार के सभी धर्मों में दुःख का हेतु बतलाया गया है उसी तृष्णा-प्रवाह ने उसे बौद्ध-धर्म तक पहुँचा दिया था। सम्राट् अशोक से लेकर कुछ समय तक मौर्यवंश के शासक उन्हीं नियमों का पालन करते रहे जिनको कि अशोक ने विश्व-कल्याण की भावना से प्रचलित किया था किन्तु चलते चलते कुनाल, जलौक, दशरथ, सम्प्रति, शालिश्क तक वे सब नियम केवल देखने के लिए शिला लेखों में ही रह गये।

जिस उद्देश्य से अशोक ने धर्म महामात्रों की नियुक्ति की थी उन सब उद्देश्यों को वे सब भूल गये। धर्मदान, धर्म मंगल समाप्त हो गये। धार्मिक सहिष्णुता का नाम तक भी न रह गया। मगध के राज दरबार से श्रमणों के लिए जितनी तत्परता

से प्रबंध किया जाता था उत्तनी तत्परता से अन्य किसी के लिए नहीं किया जाता था। ब्राह्मण यदि चले भी गये तो उन्हें उपेक्षा की दृष्टि से देखा जाता। अपमानित होकर वे आते और विहार अथवा मठों में जाकर बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेते। ब्राह्मणत्व का विनाश और बौद्धत्व का विकास राजनीति का अंग बनने लगा था। हिंसा की गुप्त नीति राजनीति का अंग बनकर आगे बढ़ी।

शालिश्क तक इस नीति का श्रीगणेश ही रहा। उसके बाद देववर्मा, शतधनुष तक इसका अंकुर प्रकट होने लगा और जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं अर्थात् बृहद्रथ के समय यह नीति विस्तार को प्राप्त होकर अकुतोभयता से अपना कार्य कर रही थी।

अजित भी इसी नीति का शिकार बन चुका था। एक बार जब वह बृहद्रथ के राजप्रासाद के द्वार देश पर पहुँचा तब द्वारपालों ने उसे वहाँ से अपमानित करके हटाया था और कहा था कि यदि इस राज-प्रासाद से तुम कुछ भी सहायता अथवा सम्मान चाहते हो तो भिक्षु के रूप में आना। जब शासक का धर्म प्रजा नहीं स्वीकार करेगी तब शासक प्रजा का हित करने को प्रस्तुत नहीं है। राजधर्म तथा प्रजाधर्म दोनों का एक होना आवश्यक है। इस पर अजित ने राजधर्म तथा प्रजाधर्म को समझाते हुए जो कुछ भी कहा था उसका प्रभाव सुननेवालों पर पड़ने का कुपरिणाम यह हुआ कि उसने सत्यता को ठुकराकर धूर्तता को अपना लिया। जिस प्रकार हो सका उसने बौद्धों

को विश्वास दिला दिया कि वह बौद्ध-धर्म के सामने अपना मस्तक झुकाना अपने लिए गौरव का विषय समझ रहा है।

अजित की बातों को सुनकर जयसेन ने प्रसन्नता प्रकट की और कहा, “मुझे कई एक मुंडाओं* की आवश्यकता है। क्या तुम इनका प्रबन्ध कर सकते हो?”

अजित—“मुंडाओं की कर्मा क्या है? कहो तो चामुंडाओं को भी बुला दूँ।”

जयसेन—“जिनमें चतुरता हो मुझे ऐसी मुंडाएँ चाहिए।”

अजित—“बौद्धमठों और बिहारों में रहने वाली मुंडाएँ सभी चतुर हैं।”

जयसेन—“तुम जिन पर विश्वास कर सको केवल उन्हीं से काम है।”

अजित—“क्या मैं जान सकता हूँ कि वह काम किस प्रकार का है?”

अजित के इस प्रश्न का उत्तर देते देते जयसेन रुक गया। बातों की शृङ्खला को बदलते हुए उसने प्रश्न किया, “धम्मा, सुधम्मा मुंडाओं का नाम होना चाहिए। क्या इस नाम की बौद्ध-भिक्षुणी मिल सकेंगी?”

“दो महीने हुए हमारे मठ में दो ब्राह्मण महिलाएँ सम्भवतः वे विधवा थीं, दीक्षा ले चुकी हैं। उनका नाम भी ऐसा ही है। कल प्रातः इसका सन्तोष-जनक उत्तर दूँगा। नहीं तो, फिर तुम्हारे कार्य के लिए नई सृष्टि की जायगी।”

* मुंडा = बौद्ध भिक्षुणी।

प्रसन्न होकर जयसेन ने कहा, “तुम जैसे मित्र से मुझे ऐसी ही आशा थी और भविष्य में भी उत्तरोत्तर बढ़ती जायगी। अच्छा यह तो बताओ कि तुम अमिता और असमा को जानते हो। व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि का निवास पाटलिपुत्र के जिस स्थान पर है उसी के समीप ये दोनों रहती हैं। हो सके तो उनका पता लगाते हुए उनके निवास तक पहुँच जाना और कहना कि कल सायंकाल सेनापति पुष्यमित्र के समीपस्थ उद्यान के द्वारदेश में उपस्थित रहें। यदि वे संभावित कार्य के योग्य हुईं तो अच्छा वेतन दिया जायगा। उनकी जो भिक्षुकी वृत्ति चल रही है वह अबाध रूप से चलती रहेगी। उनकी रक्षा का भार मुझ पर रहेगा।”

अजित ने जयसेन की बातों को बड़े ध्यान से सुना और कुछ सोच कर कहा, “जयसेन! ज्ञात हो रहा है कि तुम पाटलिपुत्र की काया को पलटाने जा रहे हो। क्या यह सत्य है?”

“सत्य उसी भावना का नाम है जो अन्तःकरण में प्रबलता के साथ जाग्रत हो उठे।”

“और मिथ्या किसे कहते हैं?”

“जो निश्चित होते होते अनिश्चित ही रह जाय।”

“मैं सत्य हूँ या मिथ्या?”

“सत्य को मिथ्या और मिथ्या को सत्य बनाना ही तो अनीश्वरवाद है।”

“अनीश्वरवाद से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है।”

“तो फिर तुम भी कल सायंकाल को अमिता और असमा

के साथ कहे हुए उद्यान के समीप कहीं उपस्थित रहना । संभव हुआ तो सेनापति पुष्यमित्र का साक्षात् हो जायगा । भेदिया तापस का कार्य करोगे तो फिर धन की कमी न रहेगी ।”

— — —

२

जयसेन के यहाँ से चलकर अजित अपने दूसरे मित्र क्षेमकर के निवास स्थान पर गया । पता चला कि “उसके निवास स्थान पर किसी के आने की आवश्यकता नहीं है । इधर कुछ दिनों से उसकी सहोदरा क्षेमा का स्वास्थ्य ठीक नहीं है । पाटलिपुत्र के अन्तर्गत जितने चिकित्सक या चिकित्सालय हैं, मानवता के नाते भी उसकी चिकित्सा नहीं कर रहे हैं । यही कारण है कि क्षेमकर ने किसी से भी न मिलने का निश्चय कर लिया है ।”

उसके इस निश्चय को जिसने अजित से कहा था उसका नाम उपशान्ता था । उसकी इन सब बातों को सुनकर अजित ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, “लक्षणों से मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मानो पाटलिपुत्र रसातल को शीघ्र ही जानेवाला है ।”

उपशान्ता ने अजित को समझाते हुए कहा, “यह सत्य है कि तुम बौद्ध हो और हम लोग जैन हैं । तुम्हारे धर्म के मानने वाले पाटलिपुत्र के सिंहासन पर विराजमान हैं और हमारे धर्म के मानने वाले उज्जैन में हैं । जिस समय हम लोग उज्जैन से पाटलिपुत्र को चलने लगे थे उसी समय यह कहा गया था कि

दशरथ जैन धर्म का विरोधी हो चुका था इसलिये पाटलिपुत्र के वे निवासी जिनमें मानवता का बोध नहीं रह गया है, कभी सज्जनता का व्यवहार नहीं करेंगे चाहे वे शासक हों या शासित। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध सभी जिसके कृपापात्र थे वह अनुकरणीय सहिष्णुतावाला तथा व्यवहार में उदारता को अपनाये रखने-वाला समदर्शी अशोक और उसके सभी सिद्धान्त समाप्त हो चुके हैं। किन्तु हम लोगों ने सभी की बातों की उपेक्षा की। आज उन सबों की भाविष्यद्वाणी सत्य हो रही है। सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र, यही तो मानवता के तीन रत्न हैं किन्तु यहाँ तो इनका अभाव सा हो रहा है।”

उपशान्ता की वाणी से ज्ञान की जो सरिता प्रवाहित हुई उससे अजित अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने उसे प्रभावित करने के लिए कहना प्रारम्भ कर दिया, “मैं यह मानता हूँ कि यह सृष्टि अनादि और अनन्त है; इसके समस्त व्यापार कर्म के महानियम के अनुसार चलते हैं। किये हुए कर्म के भोग भोगने के लिए हमें प्रत्येक समय तैयार रहना चाहिए क्योंकि किये हुये कर्म के भोग भोगे बिना मनुष्य संसार से मुक्त नहीं हो सकता।”

उपशान्ता ने अजित की ओर ऐसा दृष्टि-पात किया कि वह थोड़ी देर के लिए विस्मित-सा हो गया। क्षण भर के पश्चात् वह मन ही मन सोचने लगा, “उपशान्ता तो अब भी अंकुरित यौवना है, स्वकीया है अथवा परकीया—यह निश्चय करना कठिन है। यदि परकीया होना सिद्ध है तो यह संदिग्ध रह जाता है कि किसी अन्य पुरुष की विवाहिता है या

अविवाहिता ?”

उपशान्ता ने अजित से प्रश्न किया, “जब तुम हमारे जैन धर्म के सिद्धान्त मानते हो तो फिर हमारे सम्प्रदाय में सम्मिलित क्यों नहीं हो जाते ? आशंका किस बात की है ?”

“व्रत, उपवास और तपस्या—मैं इन तीनों से ही घबड़ाता हूँ ।”

“अहिंसा परमो धर्मः—इसे स्वीकार करते हो या नहीं ?”

“अस्वीकार करने का कोई कारण है ही नहीं ।”

“पालन करने के लिए प्रस्तुत हो या नहीं ?”

“यदि तुम सहायता करो तो ।”

“मैं किस प्रकार सहायता कर सकती हूँ ।”

“जिस प्रकार वायु से आन्दोलित होनेवाली सरिता बहते हुए तृण को अपनी तरंगों के उत्थान तथा पतन के थपेड़ों से किसी न किसी तट पर लगा देती है किन्तु उसे अपने जीवन-प्रवाह से अधिक दूर नहीं होने देती । उपशान्ते ! मुझ अजित को शान्ति प्रदान करो । ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म अथवा जैनधर्म इनमें से किसी का भी ज्ञान इस समय मेरे लिए उतना हितकर नहीं हो सकता जितना कि तुम्हारी दृष्टि हितकर हो सकती है ।”

“अजित ! इन्द्रियों के समूह ने तुम्हें पराजित कर दिया । मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर होनेवाले के लिए उचित है कि मन वाणी और कर्म की पवित्रता से अहिंसा, दया, तृष्णा, त्याग तथा आत्म-संयम के कठोर नियमों का पालन करे ।”

अजित ने कुछ भी उत्तर न दिया । वह चुपचाप उसकी

और एकबार दृष्टिपात करके धरती की ओर देखने लगा । उपशान्ता ने उसे समझाते हुए फिर कहा, “तुम एक भिक्षु हो और उस सम्प्रदाय के हो जो राज-सम्मानित है । उसका गौरव नष्ट हो, इस ध्येय से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं होना चाहिए ।”

अजित ने उपशान्ता से स्पष्ट शब्दों में कहा, “जो राज-सम्मान से गौरवान्वित है वह सदैव वैसा ही रहेगा । यह सभी जानते हैं कि मैं क्यों बौद्ध भिक्षु बना ।”

“किस भाँति मैं तुम्हारी इन सब बातों पर विश्वास करूँ ?”

“जिस भाँति तुम्हारा जी चाहे ।”

“मेरा जी यही चाहता है कि मैं अहिंसा परमो धर्मः के सिद्धान्त को छोड़ दूँ और तुम्हारी ही भाँति व्यवस्थित धर्म-नियमों के प्रति उच्छृंखलता की सृष्टि करूँ । उच्छृंखलता का दूसरा ही नाम वृष्णा-ग्रहण होगा ।”

अजित ने समझ लिया कि उपशान्ता भी मुग्ध हो चुकी है । निकट भविष्य में उसकी मनोकामना अवश्य पूर्ण होगी ।

उपशान्ता ने निश्चय कर लिया—“अजित अपना लोक तथा परलोक बिगाड़ने के लिए तैयार हो चुका है । मैं तो धर्म-सेविका का व्रत अंगीकार कर चुकी हूँ; चाहे कोई किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का क्यों न हो, मेरा काम सच्ची लगन के साथ उसकी सेवा करना है ।”

वे दोनों इसी प्रकार आपस में खड़े खड़े बातें कर ही रहे

बिना किसी तर्क के क्षेमा उपशान्ता के साथ वहाँ से चली गई। उन दोनों के जाने के बाद क्षेमंकर ने अजित से कहा, “मेरे प्रश्न का उत्तर देने में बिलम्ब क्यों कर रहे हो?”

“जब सृष्टि का क्रम ही विषम है तब मैं किस प्रकार सम हो सकता हूँ। यदि समता ही होती तो फिर ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, जैन, बौद्ध ये सब सम्प्रदाय क्यों उत्पन्न होते?”

“अजित ! तुमने इस समय केवल सत्य से नाता जोड़ा है, परिणाम यह हुआ कि मैं प्रसन्न हो गया। समता है कहाँ ? श्वेताम्बर तथा दिगम्बर ये दो सम्प्रदाय जैनियों के प्रसिद्ध हैं। कर्म काण्डवालों के सम्प्रदाय उपसम्प्रदाय के रूप में अनेक श्रेणियों में विभक्त हैं और बौद्ध धर्म जो कि कल का बच्चा है उसके भी सत्रह अट्टारह सम्प्रदाय हो गये हैं। अनेकता को मिटाने वाले मनुष्य, सम्प्रदायों की संख्याएँ नहीं बढ़ाते और एकता की रक्षा करने वाले मनुष्य समता के विचारों को नहीं ठुकराते। विषमता के पर्वत से समता का संसार देखना जिस प्रकार सरल है उसी प्रकार देखे हुए समता के संसार के समान विषमता के पर्वत को बनाना असाध्य है। नाम बस कहने और सुनने के लिए है और देखने के लिए तो केवल एक रूप है। तुम यहाँ तक क्यों आये ? इस समय तुमसे मेरा यही एक प्रश्न है।”

अजित ने क्षेमंकर से कहा, “मैं बौद्ध हो चुका हूँ इसलिए तुम्हें जैनी समझकर किसी तार्किक भावना से आया हूँ। तर्क करना मुझे अधिक रुचिकर है। मेरा यही उत्तर है।”

क्षेमंकर ने मुस्कुराकर कहा, “तो तुम अपने विहार में जाओ और मैं क्षेमा की सेवा के लिए जाता हूँ। मेरे पास तर्क करने का समय नहीं है। यदि तुम्हारी जिह्वा में खुजलाहट हो रही हो तो जाकर उपशान्ता को भेजे देता हूँ। उपशान्ता तुम्हारे सभी तर्कों को अपने वितर्कों से काट देगी। तुम बौद्ध शास्त्र को तो छूते नहीं हो और शास्त्र से भी दूर भागते हो। तुम्हारा कल्याण किस तरह होगा यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है।”

अजित ने क्षेमंकर से धीमे स्वर में पूछा, “क्या तुम सेनापति पुष्यमित्र को जानते हो?”

“सेनापति पुष्यमित्र को जानता कौन नहीं? तुम्हें यह पूछना चाहिए कि सेनापति पुष्यमित्र तुम्हें जानते हैं या नहीं? प्रश्न करना तो आता नहीं और आये हो तर्क करने! उपशान्ते!” इतना कहकर क्षेमंकर ने उपशान्ता को पुकारा।

३

उपशान्ता के आते ही क्षेमंकर ने अजित से कहा, “मैं अब क्षेमा के समीप जाता हूँ।”

क्षेमंकर को रोकते हुए अजित ने कहा, “तुम क्यों जा रहे हो? मैं चाहता हूँ कि तुम भी यहीं पर रहो। तुम्हारे रहने से लाभ यह होगा कि उपशान्ता मुझे पराजित नहीं कर सकेगी।”

“पराजित होने की शंका तुम में किस प्रकार उत्पन्न हुई?”

“इतना ज्ञान यदि मुझमें होता तो फिर मैं तुम्हारे पास

क्यों आता ?”

अजित को समझाते हुए क्षेमंकर ने कहा, “पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति और व्रस अर्थात् प्राणी ये षट् जीवकाय हैं और इनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। यदि इस ध्येय को तुम सामने रखकर संसार के मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर होने का प्रयत्न करोगे तो फिर कहीं भी पराजित होने की आशंका उत्पन्न नहीं होगी। अहिंसा परमो धर्मः।”

क्षेमंकर की इन बातों का उत्तर देते हुए अजित ने कहा, “ये सब सिद्धान्त केवल कहने और सुनने के लिए हैं। अज्ञानता के अंधकार में अपने जीवन को निशाचरी मार्ग पर ले जाने वाले कदापि अपने जीवन को सफल बनाने के निमित्त इनका सदुपयोग नहीं कर सकते।”

“कर सकते हैं अथवा नहीं कर सकते - इस समय का यह प्रश्न नहीं है। मैं तो इस समय तुमसे कह रहा था। यदि पराजित होने की आशंका तुममें बनी रही तो फिर तुम साहसी नहीं हो सकोगे और न तुम्हारी अविद्या का ही नाश हो सकेगा। तुम बौद्ध धर्म की दीक्षा ले चुके हो अतः उचित यही होगा कि तुम्हें बौद्ध धर्म के अनुसार ही समझाने का प्रयत्न किया जाय।”

आश्चर्य करते हुए अजित ने क्षेमंकर से प्रश्न किया, “क्या तुम बौद्ध धर्म के सभी सिद्धान्तों को जानते हो? जैन धर्म के अनुयायी होकर भी तुम बौद्ध धर्म का स्वागत कर रहे हो? क्षेमंकर! तुम धन्य हो और तुम्हारा.....”

उपशान्ता जो अभी तक शान्त भाव से बैठी हुई थी बोली,

“यदि अधिक समय तक सत्संग करना है तो फिर क्षेमा के समीप चलकर सत्संग किया जाय । क्योंकि जिस भूमिका के साथ प्रसंग प्रारंभ किया जा रहा है वह प्रसंग विलम्ब से ही समाप्त होगा ।”

क्षेमंकर ने उपशान्ता को समझाते हुए कहा, “उपशान्ते ! क्षेमा के निमित्त तुम इस प्रकार क्यों व्याकुल हो रही हो ? मानवता के नाते उसके प्रति हम लोगों का जो कर्तव्य है उसका पालन कर रहे हैं । कर्म का जो अनन्त प्रवाह प्रवाहित हो रहा है उसके साथ साथ हम भी प्रवाहित-से होकर अनन्त मार्ग की ओर चले जा रहे हैं । कर्म-प्रवाह की प्रत्येक तरंग जिस भाँति उठती और गिरती है उसी भाँति हमारे मानसिक विचार भी उठते और गिरते रहते हैं । यह सत्य है कि इन्हीं कर्म-प्रवाह की चंचल तरंगों से मुक्त होने के निमित्त हम, तुम तथा क्षेमा प्रयत्नशीलता को अपनाये हुए हैं । हमारी प्रयत्नशीलता की शैली इस समय जैन, बौद्ध या ब्राह्मणधर्म का नाम प्राप्त किये हुए है और हमारे सम्मिलित प्रयत्नों का रचनात्मक आदर्श इन धर्मों का स्वरूप बनकर संसार के रंग-मंच पर उपस्थित हो रहा है । यदि हम सत्यता की हत्या न करके पक्षपात को दूर करते हैं तो यह स्पष्ट है कि अशान्त मानव-समाज की उच्छृंखल-ताओं को मिटा कर तथा व्यवस्थित बन्धुत्व की भावनाओं को जागृत करके मानसिक, दैहिक, सामाजिक, व्यावहारिक, एवं राजनैतिक उन्नति को चरम-सीमा तक पहुँचा देना तथा शान्ति के अक्षय-स्रोत को प्रवाहित कर देना ही मानवता का सच्चा

धर्म है।”

उपशान्ता ने अजित की ओर संकेत करके कहा, “किन्तु ऐसा समझता कौन है ?”

अजित ने उपशान्ता के अभिप्राय को समझकर कहा, “क्षेमंकर के रहते हुए तुम्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि समझे न होते तो फिर ऐसा किस प्रकार कह सकते थे ? खेद है कि तुमने आज तक यह भी न समझा कि तुम जिसके साथ रह रही हो वह एक नया तीर्थङ्कर* होने जा रहा है। मेरे कहने से तुम क्षेमंकर से अपने सभी अपराधों की क्षमा माँग लो। सम्माननीय महापुरुष का उचित सम्मान न करना भी हिंसा का एक अंग है। उपशान्ते ! धर्म के अनुसार तुम अपराधिनी हो।”

“यदि ऐसा है तो फिर क्षेमंकर के ईश्वर होने में कुछ भी सन्देह नहीं है।”

“किस प्रकार ?”

“हमारे जैन धर्म का सिद्धान्त है कि ईश्वर वीतराग और सवेज्ञ है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन—ये जितने कारक अथवा कारकों की विभक्तियाँ हैं—वे उससे सर्वदा दूर रहती हैं।”

अजित ने उपशान्ता से यह जानने के लिए प्रश्न किया कि व्याकरण का ज्ञान उसे कहाँ से प्राप्त हुआ। क्योंकि उसने जो कुछ कहा उसका सम्बन्ध व्याकरण से अवश्य है। उसकी शंका का समाधान करती हुई उपशान्ता बोली, “अनन्त शब्द-भण्डार

से ही व्याकरण की भी उत्पत्ति है। शब्द द्वारा हम परस्पर विचारों का विनिमय करते हैं। शब्दों की गति का सहायक शून्य है। शून्य ने न तो शब्दों की सृष्टि की और न शब्दों ने शून्य को समझा इसलिए जो शून्यवत् है वही ईश्वर है। शब्दों का सहायक होने पर भी शब्दों से मुक्त रहने वाला जैसा शून्य है वैसा ही सृष्टि-चक्र का सहायक होते हुए भी सृष्टि-चक्र से मुक्त रहनेवाला ईश्वर है। मानवता का कल्याण करनेवालों में प्रगति विस्तार करते हुए जिस समय उसी प्रगति से कोई महापुरुष वीतराग होजाते हैं हम सब उन्हीं को तीर्थंकर मान लेते हैं अतएव यह सिद्ध है कि तीर्थंकर और ईश्वर दोनों ही एक हैं। यदि तुम्हारी ऐसी धारणा है कि क्षेमंकर की गति तीर्थंकर-पद के समीप है तो उचित हांगा कि क्षेमकर को ईश्वर समझकर तुम अपने कल्याण का सत्य-मार्ग निश्चित कर लो। तुम जैसे पापात्मा का उद्धार अगर बौद्ध धर्म वाले न कर सके तो जैन धर्म वाले अवश्य करेंगे।”

अजित ने क्रोध करते हुए कहा, “उपशान्ते ! दुष्ट वाणी का प्रयोग अनुचित है।”

उसी प्रकार उपशान्ता ने दृढ़ता के साथ कहा, “अजित ! शुद्ध वाणी में दुष्ट कल्पना का प्रवेश अक्षम्य है। वाणी मेरी है किन्तु कल्पना तुम्हारी है। न्याय भावों का अनुचर है।”

अजित ने उपशान्ता से प्रश्न किया, “वाणी, कल्पना, भाव तथा न्याय इनमें से सत्य कौन है ? जो सत्य होगा अपराध उसी का माननीय होगा।”

उत्तर देती हुई उपशान्ता बोली, “मध्यस्थ का अभाव अवाञ्छनीय है।”

अजित ने क्षेमंकर से प्रश्न किया, “मध्यस्थ बनने में क्या तुम्हें आपत्ति होगी ?”

क्षेमकर ने उपशान्ता की ओर दृष्टिपात करते हुए उत्तर दिया, “मध्यस्थ तो सर्व प्रथम वीतराग घोषित कर दिया गया है। तीर्थंकर बनाकर अब क्या भयंकर बनाना चाहते हो ? मानवता का किंकर क्षेमंकर जैसा है उसे वैसा ही रहने दो। यदि जिह्वा की खुजलाहट मिट गई हो तो अपने अपने रास्ते पर जाओ। मैं क्षेमा के पास जा रहा हूँ।”

इतना कहकर क्षेमंकर वहाँ से चला गया। उसके जाते ही अजित ने उपशान्ता से प्रसन्न होकर कहा, “क्षेमंकर को तुमने मूर्ख बना दिया इससे मैं अधिक प्रसन्न हो रहा हूँ।”

उसी प्रकार प्रसन्नता प्रकट करती हुई उपशान्ता ने अजित से कहा, “तुमने भी उचित ढंग से तर्क-युक्ति का समुचित उपयोग किया है। यदि तुम त्रुटि कर जाते तो फिर सफल होना कठिन था। बोलो, तुम किसलिए आये हो ? बौद्ध धर्म का उपदेश सुनाने आये हो अथवा जैन धर्म की दीक्षा लेने आये हो ? तृष्णा को मिटाने आये हो अथवा तृष्णा को बढ़ाने आये हो ?”

अजित ने सावधान होकर कहा, “संसार में ऐसा कोई श्रमण अथवा ब्राह्मण नहीं है जो सत्य-धर्म को जानकर दूसरों को उस ओर ले जाय। तुम्हीं बताओ कि दूसरा

दूसरे के निमित्त क्या करेगा ? जो मुक्त हो गया वह फिर क्यों बन्धन में आने लगा ?

“ये जितने भी नये नये धर्म हैं और जो नये नये सिद्धान्तों के आदर्श लाकर हमारे सामने उपस्थित करते हैं इनमें मुक्ति का मार्ग कहाँ पर है ? जिस प्रकार एक पशु को हम पुराने बंधन से मुक्त करके उसे नये बंधन में डालते हैं उसी प्रकार ये सब नये नये धर्म और सिद्धान्त वाले हमें हमारे पुराने धर्मों से मुक्त करके अपने निर्धारित धार्मिक बन्धनों से बाँध लेते हैं ।

“मानवता का प्रकाश हममें मानवता का विकास करना अवश्य चाहता है किन्तु धार्मिक महापुरुषों की प्रतिष्ठा के दुर्भेद्य दुर्ग में प्रतिपालित होने वाले उनके अनुयायियों के नियम-बन्धन हमें पशु बनाकर ही रखना चाहते हैं । बन्धन तो बन्धन; जो बन्धन में मुक्ति का स्वप्न देखता है वह पशु से भी गिरा हुआ है क्योंकि वन और उपवन में स्वच्छन्द विहार करनेवाला मृग कदापि बन्धन का स्वागत नहीं कर सकता । पशु योनि में उत्पन्न होने पर भी उसके अन्तःकरण की मुक्ति-भावना उसे बंधन से मुक्त रहने की प्रेरणा निरंतर करती रहती है और हम मानव ! इसी में, इसी धार्मिक बंधन में अपने आप को धन्य समझ रहे हैं ।

“यह मानवी जीवन हमारे लिए अभिशाप हो रहा है । यही एक सन्देश सुनाने के लिए मैं तुम्हारे पास आया था । चाहे इसे तृष्णा का मिटाना समझो अथवा तृष्णा का बढ़ाना समझो । मैं इन सब धर्मों के जाल में पाप और लोभ की ही

डोरियाँ देख रहा हूँ। अब तुम जैसा समझो वैसा निश्चय करो। मैं अब अपने मार्ग पर अग्रसर होता हूँ।”

उपशान्ता ने कातर स्वर से प्रश्न किया, “अजित ! तुम्हारे मार्ग का प्रारंभ और अन्त कहाँ से कहाँ तक है ? पाटलिपुत्र के जितने राजमार्ग हैं उनमें से तुम्हें कौन-सा अधिक प्रिय है ?”

अजित ने उपशान्ता के आन्तरिक द्वन्द्व का अनुभव कर लिया और तदनुसार उत्तर दिया, “बोतराग से आरंभ होकर ईश्वर तक पहुँचाने वाला मार्ग मेरा प्रिय राज-मार्ग है।”

प्रसन्नता प्रकट करती हुई उपशान्ता बोली, “जैन धर्म की तो यही पराकाष्ठा है।”

“किन्तु तुम किस मार्ग पर चलना निश्चय कर रही हो ?” अजित ने प्रश्न किया।

“तुम जिस मार्ग पर चलने के लिए कहोगे।” उपशान्ता ने तुरंत उत्तर दिया।

अजित ने गंभीर-मुद्रा के साथ कहा, “जो मार्ग सौन्दर्य के विकास से प्रारंभ हो कर माधुर्य के उपवन में समाप्त होता हो, उसी मार्ग पर तुम्हें अग्रसर होना चाहिए।”

“मधुर परिणाम कैसा होगा ?” अधीरता ने इस जिज्ञासा को उपशान्ता में उत्पन्न किया।

“संसार का ऐश्वर्य तुम्हारा चरण-चुम्बन करेगा और अजित वृष्णा की धारा में बहता बहता निरंजना के प्रवाह में समा सकेगा। मधुर परिणाम वस इतना ही होगा।”

पाटलिपुत्र के समीप अशोक ने एक सहस्र बौद्ध-भिक्षुओं के लिए विहार बनवाया था। उसका नाम कुक्कुटाराम था। नियम था कि सायंकाल वहाँ पाटलिपुत्र तथा समीपवर्ती स्थानों के सभी बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी उपस्थित रहें। बौद्ध धर्म का उपदेश तथा जातक कथाओं का पठन पाठन यहाँ का नित्यकार्य था। समझने के लिए यों समझ लेना चाहिए कि हरद्वार के समीप हृषीकेश तथा स्वर्गाश्रम के प्रति वर्तमान समय में तीर्थयात्री धार्मिक सज्जनों का जो दृष्टिकोण है वही दृष्टिकोण उस समय कुक्कुटाराम के प्रति लोगों का था।

मगध-साम्राज्य का अधिकांश वैभव धर्ममहामात्रों के आदेश से इन्हीं बौद्ध-भिक्षुओं के निमित्त व्यय होता था। उन दिनों धर्ममहामात्र* सर्वेसर्वा हो रहे थे। अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में अशोक ने इन सब धर्म-महामात्रों की नियुक्ति की थी। उनका काम तो वास्तव में यह था कि वे राज्य के हित में प्रजामात्र की रक्षा करते हुए उनके लिए कल्याण के उपाय बतलाते; किन्तु ये सब उद्देश्य केवल राजप्रासाद के किसी पत्र में ही पड़े रह गये। उन पत्रों को पढ़ने और इन धर्ममहामात्रों के कार्यों को देखने से यही विदित होता था मानों इन दोनों के अन्तर को आकाश और पृथ्वी के समान अनुमान कर लेने पर भी दृष्टिकोण में भ्रम उत्पन्न करनेवाली क्षितिज रेखा का भी कहीं निशान तक

*धर्ममहामात्र—धार्मिक विभाग का सर्वोच्च पदाधिकारी

नहीं रह गया था ।

अशोक के पत्रों की घोषणा है—“धर्ममहामात्र समस्त प्रजा के हित और सुख के लिए ही नियुक्त किये गये हैं । उन्हें दूर दूर के सीमा प्रान्त के देशों में, सब सम्प्रदायों में, भृत्यों, आर्यों, अनाथों और वृद्धों में जाकर उनका हित और उन्हें धर्मोपदेश करना चाहिए । वे राज्य में जहाँ कहीं अनुचित बन्धन वा बध की आज्ञा होती पावे वहाँ रुकवा दें, बदलवा दें और जहाँ उचित हो उन्हें छुड़ा दें । वह यह भी ध्यान रखें कि ऐसा दण्डनीय व्यक्ति कहीं बहुत संतान वाला, आपत्ति का मारा या वृद्ध तो नहीं है । वे मेरे ओर मेरे भाई, बहिन और संबंधियों के अन्तःपुर का निरीक्षण करें और प्रत्येक स्थान में धर्म तथा दान के कार्यों की देख-रेख रखें ।”

कहने के लिए वृहद्रथ के समय में भी पूर्वाधिकार प्राप्त धर्म-महामात्र थे किन्तु उनका जो ध्येय था वह बौद्धों तक हा सामित हो चुका था । यद्यपि इसमें बेचारे बौद्ध-भिक्षुओं का कुछ भी संबंध नहीं था तथापि मौर्य वंश के शासकों का प्रेम बौद्ध धर्म से होने के कारण धर्म महामात्र अपने अधिकारों का पालन पूर्ण रूप से नहीं कर रहे थे ।

धर्ममहामात्र समझ रहे थे कि यदि वे बौद्धों तक ही अपने ध्येय को सीमित रखेंगे तो राज-शक्ति की सहायता के अभाव में अन्य धर्म वाले तुरंत बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेंगे ।

कुक्कुटाराम में सब के लिए प्रवेश-द्वार मुक्त था । चाहे कोई किसी भी धर्म या सम्प्रदाय का क्यों न हो, समान आदर पाता

था। वह उपदेशामृत का पान करके चला आता। यदि कोई धर्म की दीक्षा लेने आता तो तुरंत दीक्षा दे दी जाती।

बृहद्रथ के समय धर्मदर्शी नामक एक महानुभाव धर्म-महामात्र के स्थान पर थे। उन्होंने जिस नीति का सहारा लिया उसका परिणाम यह हुआ कि कुक्कुटाराम में दीक्षा लेने वालों की संख्या बढ़ने लगी। जौ बौद्ध-भिक्कु बन गया वही आनंद के साथ दिन बिताने लगा। धर्मदर्शी की कृपा उस पर विशेष रूप से बनी रहती। कहना न होगा कि अजित भी धर्मदर्शी की कृपा का पात्र बन चुका था।

जब तक अजित ने बौद्ध धर्म की दीक्षा नहीं ली तब तक धर्मदर्शी उसे बराबर सताता रहा, किन्तु अजित के बौद्ध धर्म में दीक्षित होते ही धर्मदर्शी उसपर विशेष कृपा क्यों करने लगा था उसकी एक विचित्र कथा है। इस कथा को कोई नहीं जानता था। यदि कोई और जानने वाला था तो बस समझ लेना चाहिए कि वह उपशान्ता को छोड़ कर और कोई नहीं हो सकता।

जयसेन को बस इतना ही ज्ञात हो चुका था कि अजित और धर्मदर्शी बाल्यकाल के साथी हैं। यौवन के विकास में दोनों परस्पर विरोधी हो गये। अन्त में अब फिर एक दूसरे से मिलने लगे हैं।

प्रथम वास्तविक मित्रता थी किन्तु उसने जब वैर-भाव धारण कर लिया तब फिर यह निश्चय है कि वैर-भाव ने इस समय जो साधक और सिद्धक की नीति को अपनाया है वह

वास्तव में काँटे की भाँति दोनों के ही अन्तःकरण में चुभती होगी। एक बार वैर होने के पश्चात् जो मित्रता होती है वह सरलता से फिर वैर का रूप धारण कर सकती है।

धर्मदर्शी और अजित में विरोध के भाव को पुनर्जीवित कराना जयसेन अपनी साधना की सिद्धि का हेतु समझने लगा था। इसीलिए उसने अजित को अपने चंगुल में फाँसने का प्रयत्न किया था। कामिनी और कांचन यही दो उसके मुख्य जाल थे।

वह इन्हीं के बल से अपने को पुण्यमित्र का दाहिना हाथ बनाना चाहता था। जितना वह अग्रसर-हो चुका था सफलता भी उतना ही उसकी अनुचरी बन चुकी थी।

अपने यहाँ से अजित के जाते ही जयसेन धर्मदर्शी के निवास स्थान पर गया। जैसे ही जयसेन द्वारदेश पर पहुँचा वैसे ही एक व्यक्ति ने समादर करते हुए प्रार्थना की, “धर्ममहामात्र इस समय राजप्रासाद का निरीक्षण करने गये हुए हैं। यदि आप कष्ट का अनुभव न करें तो प्रतीक्षा कर सकते हैं।”

जयसेन ने उस व्यक्ति से कहा, ‘क्या तुम बता सकते हो कि मैं कौन हूँ?’

“आप, आप हैं। इसके अतिरिक्त मैं सभी वादों से मुक्त हूँ।” सुप्रतीत ने कहा।

“सभी वादों से मुक्त हो—इसका प्रमाण क्या दे सकते हो।” जयसेन ने प्रश्न किया।

“मेरा नाम सुप्रतीत है। मैं धर्ममहामात्र का कृपा-पात्र हूँ।

प्रतिवेदक* होने का प्रार्थी हूँ। आशा है आप इस कार्य में मेरी सहायता अवश्य करेंगे। आप से मैं सत्य कहता हूँ कि मैं वाद, प्रवाद, विवाद, अववाद, अनुवाद तथा अपवाद से दूर रहना ही अपने लिए कल्याणकर समझता हूँ।”

“जब तुम ऐसा समझते हो तो फिर प्रतिवेदक बन चुके। प्रतिवेदक होने पर तुम्हें प्रजा के समाचार राजा तक पहुँचाना होगा और राजकार्यों को उनके सामने उपस्थित करना होगा। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि आदिवाद का स्थान राज्यपरिषद् भी एक है। जब तुम वाद से दूर रहना चाहते हो, तब उचित होगा कि तुम यहाँ से ही चले जाओ और भिक्षावृत्ति को अपना लो।”

जयसेन की बातों को सुनकर सुप्रतीत ने प्रश्न किया, “आप का परिचय?”

“यही एक कारण था जिससे मैंने प्रथम ही प्रश्न किया था कि क्या तुम मुझे पहिचानते हो? किन्तु उत्तर न दे कर तुम उड़ने लगे थे। अब परिचय व्यर्थ है।”

सुप्रतीत ने कहा, “अज्ञानता के लिए क्षमा चाहता हूँ। आप क्षमाशील होंगे ऐसा मेरा विश्वास है। कृपया अपना परिचय देकर मुझे कृतार्थ कीजिए।”

“तुम ब्राह्मण धर्म को मानते हो या अन्य किसी धर्म को?”

“सुप्रतीत का इस समय कोई धर्म नहीं है। धर्म का नाम

* प्रतिवेदक—राजदरबार का पेशकार

ही अधर्म का कारण है।”

जयसेन समझ गया कि सुप्रतीत ने अपनी शैली बदल दी है। सावधान होकर बातें की जायँ तो उचित होगा। इस प्रकार निश्चित करके उरुने बड़े प्रेम से कहा, “क्या मैं जान सकता हूँ कि मैं किस प्रकार तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ?”

“आप महामात्र हैं अथवा युक्त है।”

“मैं यदि उच्च श्रेणी का पदाधिकारी होता तो महामात्र हो सकता था। निम्नवर्ग का कर्मचारी भी होता तो अपने को युक्त कह देता। मैं तो इनमें से एक भी नहीं हूँ।”

“तो फिर आप राजुक होंगे अथवा प्रादेशिक होंगे।”

“ऐसा सौभाग्य मुझे किस प्रकार मिल सकता है?”

“क्यों?”

“लाखों मनुष्यों पर शासन करने के लिए जो नियुक्त होते हैं वे राजुक कहाते हैं और न्याय विभाग तथा भूमि कर विभाग के जो ऊँचे पदाधिकारी होते हैं वे प्रादेशिक कहे जाते हैं। मैं तो एक दीन और अनाथ व्यक्ति हूँ।” कहता हुआ जयसेन समीपस्थ उद्यान की ओर दृष्टिपात करने लगा। उसे ऐसा ज्ञात हुआ मानों कोई उस उद्यान के भीतर प्रवेश कर गया हो। जयसेन ने सुप्रतीत से कहा, “उद्यान के भीतर कौन गया है, वहाँ तक जाकर इसका अनुसंधान करो।”

“यह सब काम अभय का है। वह कहीं गया है। अभी आता होगा।” कहता हुआ सुप्रतीत अपने आसन पर बैठ गया। जयसेन भी उसी के पास जाकर बैठ गया और बोला,

“मैं प्रशास्ता हूँ। मेरा काम राजकीय पत्रों और शासनों का लिखाना है। जब से वर्तमान पृथ्वीपति वृहद्रथ सिंहासन पर आसीन हुए तब से आज तक मेरा काम बंद है। वेतन भी नहीं मिल रहा है। इसीलिए धर्म महामात्र की सेवा में उपस्थित हुआ था किन्तु देखता हूँ कि मेरा दुर्भाग्य यहाँ पर भी अपनी प्रबलता प्रकट कर रहा है।”

जयसेन की इन सब बातों को सुनकर सुप्रतीत ने सहानुभूति प्रकट करते हुए कहा, “अभय के हाथ में सब कुछ है। यदि वह अनुकूल हो जाय तो फिर क्या कहना है ?”

“तुम उसे अपने अनुकूल कर सके हो अथवा यों ही अपना समय नष्ट कर रहे हो ?”

“उसे अनुकूल कर सकना बड़ा कठिन काम है।”

“उपाय तुम्हारी समझ में आया होगा ही।”

“किन्तु उसे किस प्रकार काम में लाया जाय ?”

“यदि उचित समझो तो मुझसे कह दो। मैं वचन देता हूँ कि मैं तुम्हारी सहायता करूँगा। प्रथम तुम्हारा हित कराऊँगा बाद में अपने हित की कल्पना करूँगा।”

जयसेन जो कुछ कह रहा है उसमें कपट का नाम तक भी नहीं है। ऐसा समझने पर सुप्रतीत ने कहा, “अभय के हाथ में धर्म महामात्र धर्मदर्शी का समस्त कार्य-संचालन है। सुना जाता है कि उद्यान के भीतर बने हुए विलास-भवन का गुप्त सम्मेलन को सफल बनाना अभय का काम है। वह किसी सुन्दरी के अनुसंधान में गया है। एक नवीन तथा सुन्दरी

षोडशी के आयोजन का जो उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले सकता है वही उसे अपने हाथ में कर सकता है। कांचन के रहने पर कामिनी होना आवश्यक है।”

“तो फिर ऐसे धर्म महामात्र और ऐसे धर्म महामात्र का पृष्ठपोषक-दोनों का ही विनाश करना अपना ध्येय बनाना चाहिए।” जयसेन ने क्रोध करते हुए कहा।

५

सुप्रतीत भयभीत होकर कहने लगा, “आप के विचार ऐसे नहीं होने चाहिए।”

जयसेन ने सुप्रतीत का हाथ पकड़ कर कहा, “यदि तुमने फिर टीका टिप्पणी की तो मैं इसी समय तुम्हें उचित शिक्षा देने का प्रयत्न करूँगा। सुप्रतीत ! तुम कदाचित् यह न जानते होगे कि स्वार्थ की वलिवेदी पर मानवता को हिंसा करने वाला सच्चा अहिंसा का ब्रती नहीं हो सकता। अहिंसा का सिद्धान्त मानवता की रक्षा के लिए है, मानवता को हत्या के लिए नहीं।”

“क्षमा करें तो मैं आप से अपनी शंकाओं का समाधान करा लूँ।”

“यदि मैंने शंकाओं का समाधान कर दिया तो मेरा कहना अवश्य मानना पड़ेगा।”

“मैं इस बात की प्रतिज्ञा करता हूँ कि शंकाओं का समाधान करने पर आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगा। यदि अस्वीकार करूँ तो आप यथेच्छ दण्ड दे सकते हैं।”

“मैं तुम से अभय की हत्या कराना चाहूँगा। यदि तुमने अभय को अपने अनुकूल बना लिया तो उसे क्षमा कर दूँगा; किन्तु क्षमा करने के पूर्व धर्ममहामात्र की हत्या उससे करा कर उसे प्रचुर धनराशि का अधिकारी बना दूँगा। इच्छा हो तो अपनी शंकाओं का समाधान करा लो अथवा यों ही मेरे साथ योग प्रदान करना स्वीकार कर लो। यदि यों ही योगप्रदान करना स्वीकार करोगे तो आज ही एक शत स्वर्ण मुद्रा प्रदान करूँगा। बोलो, अब तुम क्या चाहते हो? एक शत स्वर्ण मुद्रा अथवा अपनी शंकाओं का समाधान कराना?”

“जब आप को कई वर्षों से वेतन नहीं मिला और न राजकीय कोई कार्य ही सौंपा गया तब आप के पास इतना बैभव कहाँ से आया? निस्सन्देह आप धूर्त हैं। आप की बातों पर जो कोई विश्वास करेगा उसी का भविष्य अंधकारमय हो जायगा। यदि आप धूर्त नहीं हैं तो मेरे लिए एक शत मुद्रा यहीं पर ले आइए। मैं आप पर सन्देह कर रहा हूँ और मुझे ऐसा ज्ञात हो रहा है मानो कोई ऐसा कह रहा है कि ऐसे मनुष्य से दूर रहने में ही कल्याण है।”

जयसेन मोतियों का हार गले में पहिने हुए था। उसने तुरंत उस हार को अपने गले से निकाल कर उसे दे दिया। हाथ में हीरे की एक अंगूठी थी उसे भी सुप्रतीत की उँगली में पहिना दिया और कहा, “यह सब अब तुम्हारा है। यदि मेरे साथ चलते हो तो इसी समय प्रस्तावित एक शत स्वर्ण मुद्रा भी अर्पण किये देता हूँ। इतना ही नहीं, चाहे तुम मुझपर कुछ

विश्वास करो अथवा न करो; प्रति दिन सायंकाल एक शत स्वर्ण मुद्रा अर्पण करता रहूँगा। बोलो क्या तुम मेरे साथ चलने को प्रस्तुत हो ?”

सुप्रतीत ने हाथ जोड़ कर कहा, “मैं आप को इस समय अपना भगवान समझ रहा हूँ।”

“भगवान का नाम लेना पाप है।”

“मैं आप को अपना तीर्थङ्कर मानता हूँ।”

“पाटलिपुत्र में तीर्थङ्कर को मानता ही कौन है ?”

“मैं आप को सिद्धार्थ गौतम बुद्ध मानता हूँ।”

“किन्तु मैं तो अहिंसा की हिंसा करने वाला हूँ।”

“मैं आप को आधुनिक अवतार मानता हूँ।”

“किसका अवतार मानते हो ?”

“आप साक्षात् महाकाल के अवतार हैं।”

जयसेन ने सुप्रतीत की पीठ ठोक कर कहा, “अब मैं तुमसे प्रसन्न हुआ।”

“तो फिर क्या और कुछ प्रदान करेंगे ?”

“कांचन के साथ और चाहिए क्या ?”

“कांचन के बिना कामिनी और कामिनी के बिना कांचन का होना व्यर्थ है।”

जयसेन ने कहा, “सुप्रतीत ! बिना पुरुषार्थ के कुछ नहीं मिलता। पुरुषार्थ करने वाला पुरुष तुम्हारे समान धर्म महामात्र के द्वार पर श्वान-वृत्ति को नहीं अपनाता। वह सिंह के समक्ष भी दहाड़ता है और उसे पछाड़ कर अपने को धन्य बनाने का प्रयत्न भी

करता है ।”

सुप्रतीत — “मैंने कब कहा कि मैं पुरुषार्थ को नहीं मानता ?”

जयसेन—“तो फिर मेरे साथ चलो । कांचन मुक्त से लो और कामिनी के लिए स्वयं पुरुषार्थ करो । यदि मुक्त पर अब भी संदेह हो तो मैं अपने रास्ते पर जाता हूँ । जो कुछ दिया है वह सब तुम अपना ही समझो ।”

इसी प्रकार थोड़ा सा संलाप और हुआ । इसके बाद दोनों के दोनों वहाँ से चलकर राजमार्ग पर आये । पाटलिपुत्र के मध्यभाग में तीन राजमार्ग पूर्व से पश्चिम को और तीन राजमार्ग उत्तर से दक्षिण को सरल रेखाओं की भाँति चले गये थे । ये राजमार्ग जिस जिस स्थान पर परस्पर एक दूसरे से मिलते थे उस उस स्थान पर कोई न कोई मूर्ति अवश्य थी ।

कहा जाता है कि सर्व प्रथम यहाँ पर कई मन्दिर थे । उत्तर में लक्ष्मी का मन्दिर था, दक्षिण में मदिरा का मन्दिर था, पूर्व में शिव मन्दिर था और पश्चिम में विष्णु का मन्दिर था । पश्चिमोत्तर कोण में जयन्त का मन्दिर था, पूर्वोत्तर कोण में वैजयन्त का मन्दिर था । पूर्व-दक्षिण कोण में अश्विनी कुमारों का मन्दिर था और पश्चिम-दक्षिण कोण में वरुण का मन्दिर था । इन सब मन्दिरों के ठीक मध्य भाग में अपराजिता देवी का मंदिर था किन्तु इनके चिह्न तक भी नहीं रह गये थे । जो लोग जानते थे उनकी बातें कथाओं का रूप पा चुकी थीं ।

जिस स्थान पर अपराजिता देवी का मंदिर था उस स्थान पर सम्राट् अशोक की मूर्ति थी । जहाँ पर लक्ष्मी का मंदिर

था वहाँ पर गौतम बुद्ध के चरण चिन्ह की प्रतिमा शोभायमान थी। पूर्व में चन्द्रगुप्त मौर्य की मूर्ति थी। पश्चिम में एक विशाल मूर्ति थी जिसे बिन्दुसार मौर्य की मूर्ति कहते थे। दक्षिण में आचार्य चाणक्य की मूर्ति थी। चार कोणों में चार शिला लेख थे। इन सब को देखते हुए जयसेन और सुप्रतीत पाटलिपुत्र के बाहर आये। वहाँ पर आकर जयसेन ने सुप्रतीत से कहा, “यदि भवर्ण मुद्रा चाहते हो तो एक काम करो। मैं यहाँ पर बैठा हूँ। तुम सीधे मेरे निवास स्थान तक चले जाओ। मैं तुम्हारे साथ अपना पत्र दिये देता हूँ। जाते ही स्वर्णमुद्रा पा जाओगे। यदि मेरे साथ चलना चाहते हो तो मैं कुक्कुटाराम जाना चाहता हूँ। वहाँ से लौटने पर अपने निवास स्थान को जा सकूँगा। अच्छा तो यही होगा कि तुम मेरे ही साथ रहो।”

सुप्रतीत ने साधारण ढंग से कहा, “मेरा जी आप का साथ छोड़ना नहीं चाहता।”

जयसेन ने उपेक्षा के भाव से कहा, “तो फिर जैसा जी कहे वैसा ही करो।”

“मैं आपके साथ चलूँगा” कहकर सुप्रतीत चलने के लिए तैयार हो गया। जयसेन भी तैयार हो गया। पाटलिपुत्र और कुक्कुटाराम के मध्य में एक छोटा सा उद्यान पड़ता था। उसमें प्रवेश करते ही जयसेन ने सुप्रतीत से कहा, “मेरा दिया हुआ समस्त सामान लौटा दो। मैं अब नहीं चाहता कि तुम्हें अपने साथ रखूँ। तुम अपने को अधिक चतुर लगा रहे थे। मैंने यह

निश्चय कर लिया है कि ऐसे चतुर का साथ मेरे लिए संकट का कारण हो सकता है। लाओ, शीघ्रता करो। विलम्ब मेरे लिए असहनीय हो रहा है। तुम अक्षम्य हो।”

डरते डरते सुप्रतीत ने जयसेन की समस्त वस्तुओं को लौटा दिया। इसके बाद उसने रोते हुए जयसेन से कहा, “मैं अपने प्राणों की भिक्षा माँग रहा हूँ।”

“तुमने मुझ पर सन्देह किया इसलिए मैं भी तुम पर सन्देह कर रहा हूँ। यदि इस समय मैं तुम्हें छोड़ देता हूँ तो मेरा भेद खुल जायगा। तुम मेरी कोई भी बात छिपाकर नहीं रख सकते। तोभी व्यक्ति किसी का नहीं होता। जहाँ पर तुम जैसे श्वान होंगे वहाँ पर कल्याण नहीं हो सकता। जिससे लोक-हित में विघ्न की आशंका हो उसका प्राण न लेना ही पाप है। मैं ऐसे पाप से अपने को सर्वदा बचाता हूँ।”

सुप्रतीत ने देखा तो उसे ज्ञात हो गया कि जयसेन के पास कोई शस्त्रास्त्र नहीं है। उसने अनुमान किया कि कदाचित् जयसेन उसके साहस की परीक्षा कर रहा हो। ऐसा अनुमान करके उसने जयसेन से कहा, “यदि मेरे प्राण लेने से आप पुण्यात्मा बनते हैं तो मैं चाहता हूँ कि आप अब विलम्ब न करें।”

सुप्रतीत का इतना कहना था कि जयसेन उस पर सिंह के समान दूट पड़ा और अपने दोनों हाथों से उसका गला घोट दिया। आँखें निकल आईं और जिह्वा ओठों के बाहर आकर लटक गई। उसे उसी स्थान पर छोड़ कर जयसेन कुक्कुटाराम

पहुँचा। वहाँ पर पहुँचते ही उसे विदित हुआ कि आज अजित तब तक वहाँ नहीं आया है। जयसेन उसकी प्रतीक्षा करने के लिए वहीं पर बैठ गया।

उसे एकान्त में बैठा देखकर एक बौद्ध-भिक्षु ने उसके पास आकर कहा, “आप किस नाम से जाने जाते हैं?”

“मेरा नाम जयसेन है।”

“आप रहते कहाँ पर हैं?”

“पाटलिपुत्र में।”

“आप का कार्य क्या है?”

“कुक्कुटाराम की शरण में आना और मुक्ति का उपाय समझना।”

“किस हेतु?”

“संसार को मुक्ति का उपदेश सुनाने के लिए।”

“किन्तु स्वयं मुक्त होने के लिए नहीं। क्यों?”

“जैसा आप समझें वही सत्य है।”

बौद्ध-भिक्षु वहाँ से चला गया। उसके जाते ही एक दूसरा भिक्षु आकर कहने लगा, “आपके हित में हमें क्या करना चाहिए?”

जयसेन ने कहा, “तृष्णा-निवारण का उपाय करना चाहिए”

बौद्ध-भिक्षु, “तृष्णा दैहिक है या मानसिक?”

जयसेन—“दोनों प्रकार की है।”

बौद्ध भिक्षु, “दैहिक तृष्णा के निवारण के लिए शीतल जल सेवा में लाकर उपस्थित करता हूँ और मानसिक तृष्णा-निवारण

के लिए हमारे आराम का उपदेश है। उपयोग में लाना या न लाना आपकी इच्छा पर है।”

जयसेन—“अच्छी बात है। सर्वप्रथम शीतल जल का उपयोग करता हूँ।”

बौद्ध भिक्षु—“यदि आप प्रवेश-द्वार को पार करके आराम के मध्य भाग में आ जाँय तो बड़ी कृपा होगी। हम सब भिक्षु अपने को धन्य समझेंगे।”

जयसेन ने साधारण ढंग से कहा, “मैं किसी को धन्य बनाना जानता ही नहीं। मैं तो इस समय भिक्षु के द्वार का भिक्षु हूँ। भिक्षु का उचित स्थान प्रवेश-द्वार ही है। आप यदि अपने कर्तव्य का पालन करना चाहते हैं तो प्रसन्नता पूर्वक कर सकते हैं। आप की सभी सेवाएँ मुझे स्वीकार होंगी।”



६

धर्म महामात्र धर्मदर्शी के द्वार देश पर अपने मित्र सुप्रतीत को बैठाकर अभय जिस कार्य से बाहर गया था उसे पूरा करके लौट आया। आते ही देखता है कि द्वारदेश सूना पड़ा हुआ है। “सुप्रतीत क्यों गया ? कहाँ गया ? किसके साथ गया ?” ये सब प्रश्न उसके मस्तिष्क में आने लगे। जब वह कुछ भी निश्चय न कर सका तब वह सुदर्शना के पास जाने की इच्छा करने लगा। उसने सोचा, कदाचित् सुप्रतीत उसकी गलियों में वायु-सेवन करने गया होगा।

अभय ने अपने मन में कहा, “यदि सुप्रतीत सुदर्शना के यहाँ गया है तो जाने दो । मनुष्य इस संसार में जो कुछ करता है अपने आनन्द के लिए । आनन्द जहाँ मिलता है, वह वहीं जाता है । यहाँ इस सूने द्वार देश में रखा ही क्या था जो वह यहाँ पर बैठा रहता !”

इस प्रकार सोच कर वह अपने काम में लग गया । इतने में अमात्य* वर्ग आने लगा । वह उन सबों को भली-भाँति जानता था । उसने दूर से ही देख लिया कि समीपस्थ धर्ममहामात्र के उद्यान में कौन कौन जा रहा है । जब वे सब एक एक करके उद्यान में प्रवेश कर गये तब उसने धर्मदर्शी के पास समाचार भेज दिया कि उनकी प्रतीक्षा में अमात्यवर्ग बैठा हुआ है ।

धर्मदर्शी ने अभय को अपने पास बुलाकर जिज्ञासा किया, “समाहर्ता के साथ साथ और कौन आया है ? अक्षपटल का अधिकारी गणनिक आया है या नहीं ? प्रदेष्टा तथा प्रशास्ता के आने में अभी कितना विलम्ब है । दौवारिक आन्तर्वेशिक का

* अमात्यवर्ग—उच्च पदाधिकारियों का समूह । समाहर्ता—आय-व्यय का प्रबंधक । अक्षपटल—हिसाब का विभाग । गणनिक—हिसाब-विभाग का अधिकारी । प्रदेष्टा—न्याय और शासन का उच्च अधिकारी । प्रशास्ता—राजकीय पत्रों तथा शासनों को लिखाने वाला । दौवारिक—राज-प्रासाद का प्रबंधक । आन्तर्वेशिक—राजा के शरीर रक्षकों का अधिकारी । अन्तपाल—सीमाप्रांत का रक्षक । दुर्गपाल—देश-रक्षक । स्थानिक तथा गोप—नागरिक के अधीन कर्मचारी ।

प्रबंध है या नहीं ? मन्त्री, पुरोहित, सेनापति और अन्तरंग समिति के सदस्यगण उपस्थिति हैं या कुछ बिलम्ब है। भूतपूर्व अन्तपाल एवं दुर्गपाल बुलाये गये हैं या नहीं ? नागरिक, स्थानिक तथा गोपों में से कोई आया है या नहीं ?”

अभय ने विनोत भाव से कहा, “अन्नदाता का कल्याण चाहनेवाले आ गये हैं। जो नहीं आये उन्हें यदि आज्ञा हो तो जाकर बुला लाऊँ।”

धर्मदर्शी ने कहा, “थोड़ा सा समय बीत जाने पर। तब तक तुम समस्त प्रबंध कर लो।”

अभय ने हाथ जोड़ कर कहा, “अन्नदाता के प्रताप से सब प्रबन्ध हो चुका है।”

उसका ऐसा उत्तर सुनकर धर्मदर्शी ने कहा, “मैं तुम्हारे कार्य से अत्यधिक प्रसन्न हूँ। संभव हुआ तो आगामी मास से तुम्हारे वेतन में वृद्धि का आदेश हो जायगा।”

धरती तक अपने मस्तक को झुकाकर अभय ने कहा, “अन्नदाता की उदारता सराहनीय है। संसार का कल्याण करने के लिए अन्नदाता का अवतार हुआ है।”

अपने को अवतारी पुरुष समझकर धर्मदर्शी साभिमान कहने लगे, “किन्तु ऐसा समझता कौन है ? सभी मुझे साधारण मनुष्य के रूप में ही देखते हैं।”

“अन्नदाता की कृपा का पात्र जो बनता है वही ऐसा समझ सकता है।”

“मैं चाहता हूँ कि सभी को अपना कृपा-पात्र बना लूँ

जिससे कि सभी की समझ वैसी ही हो जाय जैसी कि इस समय तुम्हारी है ।”

“आप अन्नदाता हैं, जितने चाहें उतने कृपा-पात्र बना लें किन्तु अपनी सी समझवाला बनाने में मैं असमर्थ हूँ । अन्नदाता की समानता अन्न का भित्तुक नहीं कर सकेगा ।”

धर्मदर्शी ने प्रसन्न होकर कहा, “तुम्हारे लिए मैं विशेष रूप से सोच रहा हूँ ।”

अभय ने विनम्रता को अपनाते हुए कहा, “अन्नदाता की जय जयकार हो ।”

धर्मदर्शी ने अभय को अपने समीप बुलाकर धीमे स्वर से पूछा, “आनन्द-मन्दाकिनी का प्रबंध पूर्ण रूप से है या संदिग्ध प्रबंध है ।”

“पूर्णरूपेण प्रबंध है ।”

“और रूपमाधुरी का ?”

“सायंकाल से ही विराजमान हैं ।”

“किस स्थान पर ?”

“उद्यान के उत्तरी कुञ्ज में ।”

“तो फिर चलना चाहिए ।”

“अन्नदाता की इच्छा पर है ।”

अभय की इन बातों को सुनकर धर्ममहामात्र धर्मदर्शी उद्यान की रंगशाला की ओर चल पड़े । जैसे ही उन्होंने रंगशाला में पदापेपण किया वैसे ही आगत अमात्यवर्ग ने उनका सादर अभिनन्दन किया । समाहर्ता के समीप आसन पर बैठ-

कर धर्मदर्शी ने उपभोग करनेवाली सामग्रियों के लाने का संकेत किया। यथाक्रम सामग्रियाँ आने लगीं। इतने में ही अभय ने आकर सूचित किया, “अन्नदाता की आज्ञा से रूपमाधुरी का प्रवाह इस ओर आ रहा है।”

समाहर्ता ने प्रसन्न होकर कहा, “इन्द्रियजनित सुख उपलब्ध होगा।”

गणानिक ने कहा, “तो फिर मृत्यु के तीनों कारण उपस्थित होने वाले हैं।”

प्रदेष्टा ने कहा, “ऐसी दशा में उत्पत्ति का विषय भी स्पष्ट हो जायगा।”

प्रशास्ता जो कि अभी तक शान्त भाव से बैठा हुआ था, बोला, “किन्तु बिना अन्तराभव ज्ञान के सब व्यर्थ है। ज्ञात नहीं कि आज क्या क्या प्रत्यक्ष हो?”

धर्मदर्शी ने संक्षेप में कहा, “हमारा बौद्ध-दर्शन क्षण क्षण परिवर्तनशील मन से परे किसी भी नित्य जीवात्मा को नहीं मानता। मृत्यु से अभिप्राय है एक शरीर-प्रवाह से एक मन-प्रवाह का च्युत होना। उसी प्रकार उत्पत्ति से अभिप्राय है, एक मन-प्रवाह का दूसरे शरीर प्रवाह में उत्पन्न होना।”

समाहर्ता ने प्रश्न किया, “अन्तराभव से अभिप्राय क्या है?”

धर्मदर्शी ने समाहर्ता से कहा, “आप भी बच्चों के समान प्रश्न करते हैं।”

“आपके सामने यदि बच्चे ही बन गये तो इसमें हानि

क्या है ?”

“यदि ऐसा है तो मैं समझाने का प्रयत्न करूँगा । क्योंकि जन्म और मृत्यु के अनेक स्थल प्रत्यक्ष होते रहते हैं किन्तु जन्म और मृत्यु के बीच की अवस्था किस प्रकार की होती है—यह ज्ञान सिवा सिद्ध महापुरुषों की कृपा के अन्यथा प्राप्य नहीं है ।”

“इस मगध राज्य में इस समय तो केवल आप ही सिद्ध महापुरुष हैं । यदि हम सब आपकी कृपा से वंचित रहे तो फिर निर्वाण होना कठिन हो जायगा ।”

“एक शरीर को छोड़ने पर तथा दूसरे शरीर में उत्पन्न होने तक बीच की जिस अवस्था में मन रहता है उसी को अन्तराभव कहते हैं । अन्तराभव को जैसे शरीर में उत्पन्न होना होता है वैसी ही उसकी आकृति होती है । वह अपने रास्ते में सप्ताह भर तक लगा रहता है ।”

“पुरुष शरीर का मन-प्रवाह किस प्रकार स्त्री-शरीर-प्रवाह में उत्पन्न होता है ?”

“अन्तराभव माता-पिता की मैथुन क्रिया को देखता है । उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है तो उसकी पुरुष में आसक्ति हो जाती है और यदि पुरुष बननेवाला होता है तो स्त्री में उसकी आसक्ति होती है ।”

“एक प्रश्न मेरा और है । वह यह है कि पुण्यात्मा तथा पापात्मा को किस प्रकार जान सकते हैं । इनके जानने का सैद्धान्तिक उपाय क्या है ?”

“मृत्यु ही इसका निर्णय करती है । मृत्यु के समय पापात्मा

का शरीर हृदय से ऊपर प्रथम ठंडा पड़ता है और पुण्यात्मा का निम्न भाग फिर समस्त शरीर ।”

“धर्ममहामात्र की इन सब बातों को सुनकर समाहर्ता ने कहा, “तो फिर हम सबों को शीघ्र पुण्यात्मा बनना चाहिए क्योंकि मृत्युकाल उपस्थित है ।”

आनन्दमंदाकिनी के नाम से पुकारी जानेवाली मदिरा का शुभागमन हुआ । बन्धनमुक्त होकर जैसे ही उसने अपना स्वरूप दिखाया वैसे ही पायजंत्रों के घुँघरू समस्वर से बोल उठे । वीणा के तार भङ्कृत हो उठे । मृदंग का सुद्योष घुँघरू तथा वीणा के साथ मृदुता का रसास्वादन करने लगा । अभय ने विनम्र होकर कहा, “अन्नदाता की सेवा में रूपमाधुरी उपस्थित होना चाहती हैं । आज्ञा की प्रतीक्षा है ।”

“पूर्ण समादर के साथ लाकर उपस्थित करो ।” धर्मदर्शी ने कहा ।

रूपमाधुरी ने जैसे ही रंगशाला में पदार्पण किया वैसे ही करतल ध्वनि से उसका हार्दिक स्वागत किया गया । धर्मदर्शी ने उसे एक मणि-माला अर्पण किया । समाहर्ता ने मोतियों का हार अपने हाथ से उसके गले में पहिना दिया । गणनिक ने शत स्वर्ण मुद्रा सामने लाकर रख दिये । प्रदेष्टा ने एक हीरे की अंगूठी उसकी उँगली में पहिना कर उसकी सराहना की । प्रशास्ता ने पचास स्वर्ण मुद्रा का उपहार प्रदान किया । रूपमाधुरी ने श्रद्धा के साथ सब के उपहारों को स्वीकार किया और धर्ममहामात्र के आदेश से नृत्य करने को प्रस्तुत हुई ।

नृत्यों के नामकरण के संबंध में उसने सूचित किया—“मेरा आज जो नृत्य होगा उसका नाम अविचल निर्वाण है।” इतना कहकर उसने नृत्य आरंभ किया।

सर्वप्रथम उसने सिद्धार्थ के उस भाव को दिखाया जिस समय वे इधर उधर योग की बातें सीखने के लिए पर्यटन कर रहे थे। इसके बाद बोधिगया के पास प्रायः छः वर्ष तपस्या करने के पश्चात् अनशन के कारण जब शिथिल हो गये थे उस समय का भाव प्रदर्शित किया। जब वह स्थूल भोजन करने लगे और उनके साथ के पाँच भिक्षु उदासीन होकर चले गये उस समय के भाव दिखलाकर रूपमाधुरी ने सिद्धि प्राप्त करने के भाव दिखाये।

अन्त में सभी भावों का सारांस स्वरूप उसने जो नृत्य किया वह अद्वितीय था। उसने दिखाया कि वह एक नदी में बही जा रही है। जितना ही वह उससे वचना चाहती है उतना ही उसकी लहरें उसे अचेत करने का प्रयत्न कर रही हैं। वह बहुत हाथ पैर मारती है किन्तु अन्त में हताश हो जाती है। कुछ समय तक वह अचेत रहती है। सहसा वह उठ खड़ी होती है और एक सुन्दर श्वेत घाट पर पहुँच जाती है। उसकी जल-धारा को स्पर्श करते ही उसे जन्म के दुष्परिणाम विदित हो जाते हैं। वहीं वह अनुपम निर्वाण को प्राप्त करती है। इसके बाद अपने हाथ की चार उँगुलियों को दिखाती हुई सनृत्य वह रंगशाला से प्रस्थान करती है।

सभी उसकी प्रशंसा मुक्त कण्ठ से करते हैं। धर्मदर्शी ने अमात्यवर्ग को धन्यवाद देते हुए कहा, “यदि इस प्रकार के नृत्यों में धनराशि को व्यय किया जाता है तो इसे अपव्यय नहीं कहना चाहिए। वास्तव में इस तरह के नृत्यों से भी मानव-विचार पवित्र हो सकते हैं। साथ ही साथ कला की भी रक्षा होती है। आशा है हम सब फिर कभी शीघ्र मिलेंगे।”



७

सुदर्शना पाटलिपुत्र की दक्षिणी सीमा पर एक छोटे से मकान में रहती थी। वह किस धर्म या सम्प्रदाय की थी इसे सुप्रतीत को छोड़कर और कोई नहीं जानता था। अभय तो बस इतना ही जानता था कि जब उसका मित्र सुप्रतीत उससे प्रेम करता है तब वह किसी अच्छे परिवार की अवश्य होगी क्योंकि सुदर्शना के यहाँ उसको लेजाने वाला सुप्रतीत ही था।

सुप्रतीत का यह नियम था दिन में चाहे वह कहीं पर रहे किन्तु सन्ध्या होते होते वह सुदर्शना के यहाँ आ जाता था। उसके लिए सुदर्शना जो कुछ रुखा-सूखा भोजन बनाती उसे वह प्रेम पूर्वक पा लेता और उसकी प्रशंसा करता हुआ अपना संतोष प्रकट करता।

नियमानुसार जब सुप्रतीत न आया तब सुदर्शना घबड़ाने लगी। भोजन सामग्री उसने जो कुछ तैयार की थी वह ज्यों की त्यों रखी रही। धीरे धीरे रात्रि आगमन के कई घंटे बीत

गये । कई बार वह द्वार पर आई और कई बार वह भीतर गई । आकाश मंडल के नक्षत्र जो पूर्व क्षितिज पर थे वे आकाश के मध्य भाग में आकर चमकने लगे और जो नक्षत्र मध्य भाग में थे वे पश्चिमी क्षितिज की शरण में जा पहुँचे किन्तु सुप्रतीत न आया ।

निर्जन मकान में बैठी हुई सुदर्शना कभी सुप्रतीत के न आने के कारणों पर विचार करती और कभी अपने जीवन की अतीत घटनाओं का सिंहावलोकन करती । निद्रा तो उससे कहीं दूर चली गई थी । सोचते सोचते सुदर्शना ने निश्चय किया, “अभय ने रोक लिया होगा ।”

फिर उसने विचार किया, “आज तक अभय ने क्यों न रोका ? अभय के रोकने से भी वे नहीं रुक सकते थे । उनका तो यह नियम था कि संध्या होते होते सुदर्शना के यहाँ पहुँच जाना चाहिए । आज इस नियम को उन्होंने क्यों तोड़ा ? यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है ।”

वह इसी भाँति सोच ही रही थी कि इतने में अभय आ गया । आते ही उसने सुदर्शना से प्रश्न किया, “सुदर्शने ! सुप्रतीत कहाँ पर हैं ?”

सुदर्शना ने उत्तर देते हुए कहा, “आपके यहाँ होंगे, ऐसा मेरा विश्वास था किन्तु वे आपके यहाँ भी न गये और न मेरे ही यहाँ आये । अब उनको कहाँ खोजा जाय ?”

“सन्ध्या से कुछ पूर्व सुप्रतीत मेरे यहाँ गया था । धर्ममहा-मात्र के काम से मैं कहीं चला गया था । जब लौटकर आता हूँ

तब देखता हूँ कि सुप्रतीत का पता नहीं है। मैंने तो यह अनुमान कर लिया था कि तुम्हारे यहाँ चला आया होगा, इसलिए निश्चिन्त था। मैं उसे खोजने के लिए किधर जाऊँ ? किससे पूछूँ ? उसके बिना तो मेरा संसार ही शून्य है।”

इतना सुनते ही सुदर्शना की आँखों से आँसुओं की धारा बह चली। उसने रोते हुए अभय से कहा, “यदि सुप्रतीत का पता न चला तो फिर इस पाटलिपुत्र में मेरा रहना कठिन हो जायगा। मेरे लिए कौन दिनरात चिन्तित रहेगा ? मेरे ऊपर अपने को न्योछावर करने के लिए कौन तैयार रहेगा ? समाज की चिनगारियों से मेरी रक्षा करने का कौन वाड़ा उठायेगा ? स्त्री-जाति रत्न के समान है, ऐसा मानकर संसार में मेरी कौन प्रतिष्ठा बढ़ायेगा। मुझ जैसी चंडाल-कन्या का सुदर्शना कहकर कौन सम्बोधन करेगा ? कोई नहीं कर सकता ? सभी अपने अपने स्वार्थ में ही भूले हुए हैं। मैं तो अब कहीं की भी न रही।”

आश्चर्य करते हुए अभय ने कहा, “सुदर्शने! क्या तुम चण्डाल-कन्या हो ?”

सुदर्शना ने दुःख के आवेग को रोकते हुए कहा, “अब इस प्रश्न से लाभ क्या है ?”

उत्तेजित होकर अभय ने सुदर्शना से फिर कहा, “तुमने क्यों मुझे धर्म-भ्रष्ट किया है ?”

अभय की भयानक मुख मुद्रा को देखकर सुदर्शना भयभीत हो गई। उसने काँपते हुए कहा, “इसमें मेरा अपराध क्या है ?

आप दोनों ही परस्पर मित्र थे। यदि एक मित्र ने दूसरे मित्र से स्पष्ट दृष्टिकोण को अस्पष्ट रखकर अपना प्रेम समानता के क्षेत्र में विकसित किया है तो इसमें मैं क्या कर सकती हूँ ? आप ने कभी मुझसे मेरा परिचय जानने की इच्छा नहीं की है। मेरा विश्वास था कि जैसे पवित्र विचार आप के मित्र के हैं वैसे ही पवित्र विचार आप के भी होंगे। किन्तु इस समय स्पष्ट हो गया कि मैं अपने सपनों के संसार में भूल की नींव पर अनुभवों का प्रासाद खड़ा करके अनुभवों का वायु सेवन कर रही थी। मेरा स्वप्न समाप्त हुआ। क्या मेरा राजप्रासाद मिट्टी में मिल गया अथवा मैं अनुभवों की आँधी में अनन्त की ओर उड़ी जा रही हूँ ? यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। अब प्रश्न रहा, आप के धर्मभ्रष्ट करने का। उत्तर में मैं इतना ही कह सकती हूँ कि आप अभी तक धर्म-भ्रष्ट नहीं हुए हैं।”

सुदर्शना के प्रत्येक शब्द अभय को बज्र के समान कठोर प्रतीत हो रहे थे। उसने उसके कथन को सुनकर कहा, “इतने पर भी यदि मैं धर्म-भ्रष्ट नहीं हुआ तो फिर कैसे धर्म-भ्रष्ट हुआ जाता है ? मैं चंडाल-कन्या के यहाँ आता रहा, फिर भी मैं धर्म भ्रष्ट नहीं हुआ ! कहती क्या हो ?”

“जो सत्य है, वही इस समय प्रकट है। यदि आप मुझे चंडाल कन्या जानते होते और फिर प्रेम के साथ अपनाये होते तो संभव था कि धर्म-भ्रष्ट होने का कलंक आप को स्पष्ट करता। आप ने तो यह समझा था कि मैं वही हूँ जो आप के मित्र हैं अतएव आप धर्म-भ्रष्ट के दोष से मुक्त हैं।”

“इस समय यदि सुप्रतीत मिल जाता तो मैं अपने इन्हीं हाथों से उसका गला घोट देता । उच्च वर्ण में जन्म लेकर भी जो चंडाल-कन्याओं के साथ विहार करता है उसका विनाश परमावश्यक है । यदि मैं ऐसे नीच को अब भी जीवित रखता हूँ तो फिर पाप का प्रायश्चित्त करना कठिन हो जायगा ।”

इतना सुनते ही सुदर्शना उसके चरणों पर मस्तक रखकर बोली, “आप को ऐसा संकल्प नहीं करना चाहिए । मित्र के साथ विश्वासघात करना महान् पातक है ।”

सुदर्शना के मस्तक पर पदाघात करते हुए अभय ने कहा, “सुप्रतीत ने मेरे साथ विश्वास-घात किया है । यदि वह बतलाये होता कि तुम चंडाल-कन्या हो, तो मैं कदापि तुम्हारे पास न आता ।”

अभय के पदाघात करते ही सुदर्शना ने उत्तेजित होकर कहा, “तुम कुत्ते हो । कुत्ते का धर्म है हड्डियों को चूसना । हड्डी चाहे किसी की हो, तुम उसे अवश्य चूसोगे । कल तक सुदर्शना की ही हड्डियों को चूसने में तुम्हें आनन्द मिलता था ; कल से किसी दूसरे की हड्डियों को चूसने के लिए इधर उधर घूमते फिरोगे । अपवित्रता के जीवन में पवित्रता आ ही नहीं सकती । तुम नीच हो, तुम पातकी हो, तुम चंडाल हो, तुम कुत्ते हो । जाओ यहाँ से । तुम इसी योग्य हो ।”

अभय ने सावधान होकर कहा, “मैं धर्म-महामात्र धर्मदर्शी का विशेष कृपापात्र हूँ ।”

“सम्राट् अशोक के बाद न कोई धर्ममहामात्र रहा और न

कोई उसका कृपापात्र। जितने कुपात्र थे सभी आकर इकट्ठे हो गये हैं। और तुम जैसे कुपात्रों से अपने को धन्य समझने लगे हैं। तभी तो मौर्यवंश का विनाश समीप आ रहा है। किसी राज्य या शासन-व्यवस्था के विनाश का कारण उसीके कर्मचारी ही हुआ करते हैं। तुम सब इसी सिद्धान्त के एक उदाहरण हो। जाओ, अपने रास्ते पर और सोचने दो मुझे अपने भविष्य का कर्तव्य।”

अभय ने सुदर्शना को भयभीत करने के लिए कहा, “सुदर्शने ! तुम राजद्रोह का अपराध कर चुकी हो। यदि मैं चाहूँ तो इसी समय तुम्हें पकड़ कर ले जा सकता हूँ।”

सुदर्शना ने निर्भीकता के साथ उत्तर दिया, “जिस समय मैं तुम्हारा समस्त वृत्तान्त कह दूँगी उस समय तुम पाटलिपुत्र में मुँह दिखाने के योग्य भी न रह जाओगे।”

सुदर्शना के इस उत्तर से अभय नम्र पड़ गया। उसने साधारण ढंग से प्रश्न किया, “यदि तुम्हारी इच्छा ऐसी ही है तो मैं क्या कर सकता हूँ ? सुदर्शने ! मैं तुम्हारी दया का भिन्न हूँ।”

“मैं दया की भिक्षा देने को प्रस्तुत हूँ किन्तु तुम्हें एक कार्य करना होगा।”

अभय ने प्रसन्न होकर कहा, “संभव हुआ तो बिना बिलम्ब के मैं उसे पूर्ण करूँगा।”

सुदर्शना ने अभय को समझाते हुए कहा, “यह सत्य है कि मैं चंडाल-कन्या हूँ। सुप्रतीत ने यह सब जानते हुए भी मेरा

कभी निरादर नहीं किया है। आज उसके न आने से मेरा चिन्त यही कह रहा है कि अब वह मुझसे नहीं मिल सकेगा। पाटलिपुत्र के जितने भी राजकर्मचारी हैं सभी अपने-अपने स्वार्थ में लगे हुए हैं। यदि उनको राजकोष से वेतन न मिले तो वे कभी राज्य के हित में कार्य करने को तैयार नहीं हो सकते। सत्यता के साथ यदि कोई राज्य की सेवा करना चाहे तो वे उसे अवसर भी नहीं दे सकते। राजनीति के जितने धुरंधर विद्वान् हैं सभी अपने-अपने पक्ष को लेकर तर्क-युद्ध में लगे रहते हैं। ब्राह्मण धर्म के मानने वाले यही चाहते हैं कि बौद्ध तथा जैन धर्म को मिटा दिया जाय। बौद्ध धर्म के मानने वाले चाहते हैं कि उनके धार्मिक सिद्धान्त सर्वमान्य हो जाँय। जैन धर्म के लोग चाहते हैं कि उनसे बढ़कर दूसरा और कोई न हो। यहाँ के राजा वृहद्रथ जैसे हैं वह सभी जानते हैं। सेनापति पुष्यमित्र का आतंक दिन दिन बढ़ता जा रहा है। ऐसी दशा में इस पाटलिपुत्र का सौभाग्य नष्ट होने के रास्ते पर है। अतएव मैं चाहती हूँ कि मैं आज ही रात में यहाँ से चली जाऊँ। मेरे जाने से तुम्हारे लिए दो लाभ हैं। एक तो मेरे चली जाने से तुम्हारे धर्म-भ्रष्ट होने का जो वृत्तान्त है वह कोई नहीं जान सकेगा क्योंकि कहने वाला कोई नहीं रह जायगा। दूसरे यदि सुप्रतीत आये भी तो मेरे बिना वे नहीं रहेंगे। उनसे इतना ही कहना कि मैं वहीं मिलूँगी जहाँ से वे मुझे लाये थे। तुम निश्चिन्त होकर रह सकोगे। दया की भिन्ना तभी दी जा सकती है। मैं तुम्हारे लिए कलंक बनकर रहना नहीं चाहती।”

अभय ने दुःख प्रकट करते हुए कहा, “चंडाल-कन्या के विचार इतने ऊँचे नहीं हो सकते। मैं नहीं चाहता कि तुम यहाँ से जाओ। यदि तुम यहाँ से चली गई तो पाटलिपुत्र की काया पलट जायगी। न हम रहेंगे, न मौर्य-वंश रहेगा। तुम गुप्त रूप से आने वाली पाटलिपुत्र की भाग्य-लक्ष्मी हो, मौर्य-वंश की रक्षा करनेवाली राजप्रासाद की राजलक्ष्मी हो। सुप्रतीत के मन-मन्दिर में बसनेवाली तुम प्रेम की देवी हो और मुक्त भाग्य-हीन अभय के नेत्रों में आनन्द को प्रत्यक्ष करनेवाली साक्षात् सुदर्शना हो। मैं अपने कलंक को अपना सौभाग्य ही समझूँगा किन्तु यह नहीं चाहूँगा कि तुम यहाँ से प्रस्थान कर जाओ।”

“दया की भिक्षा द्वार पर आये हुए भिन्नक को दे चुकी हूँ। उचित यही होगा कि दाता अपने रास्ते पर जाय और भिन्नक अपने रास्ते पर। रात्रि का तीसरा प्रहर भी समाप्त हो चुका है। मुझे यहाँ से प्रस्थान करना चाहिए। तुम सुखी रहो यही मेरी कामना है।”

इतना कहकर सुदर्शना अपने मकान से चल पड़ी। जो सामान जिस प्रकार पड़ा था वह उसी प्रकार पड़ा रहा। अभय ने उसका पीछा करते हुए कहा, “सुदर्शने! तुम्हारी आह से पाटलिपुत्र का सर्वनाश हो जायगा। पाटलिपुत्र की जनता निरपराध है। अपराधी यदि कोई है तो मैं हूँ। मेरे कारण तुम पाटलिपुत्र का त्याग मत करो। फिर से विचार कर लो।”

“राजकर्मचारी ही पाटलिपुत्र के लिए उत्तरदायी हैं।” कहती हुई सुदर्शना चली गई।

दूसरे दिन सवेरा होते होते सुदर्शना पाटलिपुत्र से कहीं दूर चली गई। चलते चलते वह एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने भाग्य को कोसने लगी। अभय और सुप्रतीत दोनों के ही बर्ताव उसे स्मरण होने लगे। वह इसी प्रकार स्मृतियों का जाल तैयार कर रही थी कि इतने में एक बौद्ध भिक्षु उधर से आता हुआ दिखाई पड़ा। उसने आते ही सुदर्शना से प्रश्न किया :—

“सुखं जीवितरूपोसि रट्ठा विवन्मागतो ।

सो एकको अरञ्जस्मि रुक्खमूले कपणो विय भायसि ॥

अर्थात् तुम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाली सी हो। जनाकीर्ण स्थान से निर्जन स्थान में आई हो। तुम जंगल में वृक्ष के नीचे अकेली बैठ कृपण के समान क्या सोचती हो ?”

सुदर्शना ने उत्तर दिया,

“सुखं जीवितरूपोस्मि रट्ठा विवन्मागतो ।

सो एकको अरञ्जस्मि रुक्खमूले,

कपणो विय भायामि सतं धम्मं अनुस्सरं ॥

अर्थात् मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करनेवाली हूँ। जनाकीर्ण स्थान से निर्जन स्थान में आई हूँ। अरण्य में वृक्ष के नीचे अकेली कृपण के समान श्रेष्ठ पुरुषों के धर्म को स्मरण करती हुई ध्यान लगा रही हूँ।”

सुदर्शना के इस उत्तर को सुनकर उस बौद्ध भिक्षु ने कहा, “तुम्हें तो जातक कथाएँ भली भाँति स्मरण हैं। मैंने जिस गाथा का सहारा लिया तुमने उसी से उत्तर दिया। देवि ! तुम धन्य हो।”

सुदर्शना ने कहा, “मैं चंडाल-कन्या हूँ। इस प्रकार देवि ! कहकर आप देवियों का अपमान न करें। मैं पतित होकर इस पद को पाने का दुस्साहस नहीं कर सकती।”

बौद्ध-भिक्षु ने कहा, “विदित हो गया कि तुम इस समय दुःख का अनुभव कर रही हो। इस जगत में चंडाल कन्या होने के कारण तुम्हें अधिक कष्टों का सामना करना पड़ा है और अब भी तुम उन्हीं कष्टों का अनुभव कर रही हो। अतः कालक्षेप के लिए उचित होगा कि मैं जातकों में से खन्धवत्त जातक को कह सुनाऊँ। संभव है कि उस से दुःख का निवारण हो।”

सुदर्शना ने कहा, “मुझे न तो किसी से भय है और न मैं किसी से बैर-भाव रखती हूँ। ऐसी दशा में आप का जातक कथन व्यर्थ होगा। मैं आप को कष्ट देना नहीं चाहती।”

“किन्तु मैं यह अवश्य चाहता हूँ कि आप बौद्ध-धर्म की दीक्षा ले लें। हम बौद्ध परस्पर भेद भाव नहीं रखते। ऊँच नीच का बर्ताव हम लोगों में नहीं है। हम सब यह भली भाँति जानते हैं कि जो कुछ हममें है वह सब दूसरे में है। संसार में सभी दुःखी हैं। इतना ही नहीं, जन्म भी दुःख है, मरण भी दुःख है। शैशव, यौवन तथा वृद्धत्व सभी दुःख है। अप्रिय से संयोग,

प्रिय से वियोग भी दुःख है। इच्छा करने पर भी जिसे नहीं पाता वह भी दुःख है; अतः इनसे मुक्त हुए बिना सुख कहाँ ? रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान तृष्णा के विषय होकर जब समीप आते हैं तब इनको उपादान स्कंध कहते हैं।

“देवि! दुःख का हेतु केवल तृष्णा है। भोग की तृष्णा, भव की तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियों के जितने प्रिय विषय या भोग हैं उन विषयों के साथ सम्पर्क, उनका ध्यान तृष्णा को उत्पन्न करता है। प्रिय भोग के लिए ही राजा भी राजाओं से युद्ध करते हैं। क्षत्रिय क्षत्रियों से, ब्राह्मण ब्राह्मणों से, गृहपति गृहपति से, माता पुत्र से, पुत्र माता से, पिता पुत्र से, पुत्र पिता से, भाई भाई से, बहिन भाई से, भाई बहिन से, मित्र मित्र से लड़ते हैं। वह परस्पर कलह-विग्रह-विवाद करते करते एक दूसरे पर हाथ से, दंड से, शस्त्र से आक्रमण करते हैं। वह मर भी जाते हैं और मरण समान दुःख को प्राप्त होते हैं।”

उस बौद्ध भिक्षु की इन सब बातों को सुनकर सुदर्शना आँसू बहाने लगी। उसे आँसू बहाते देखकर उस भिक्षु ने प्रश्न किया, “आप ऐसा क्यों कर रही हैं ? क्या मेरे कारण आप को कष्ट हो रहा है ? यदि वास्तव में ऐसा है तो आपकी प्रसन्नता के हेतु, मैं यहाँ से प्रस्थान करता हूँ।”

सुदर्शना ने हाथ जोड़ कर कहा, “आप के कारण मैं शान्ति का अनुभव करने लगी हूँ। उष्ण वायुमंडल में जिस समय शीतलता का प्रवेश होता है उस समय उससे भी ओस-कण गिरने लगते हैं; इसी लिए मैं आप से सत्य कह रही हूँ कि मेरे

जलते हुए चित्त में आप के इस कथन ने जो शान्ति पहुँचाई है उससे ये अश्रु-कण निकल आये। आप इनको देखकर विचलित न हों। आप यदि इस विषय पर और अधिक प्रकाश डालें तो मैं अपने को सफल-मनोरथ समझूँगी।

प्रसन्न होकर उस बौद्ध भिक्षु ने कहा, “दुःख का विनाश हुए बिना कोई भी सफल मनोरथ नहीं हो सकना। दुःख-विनाश के लिए तृष्णा के अत्यंत निरोध की आवश्यकता है। प्रिय विषयों और उनसे संबंध रखने वाले विचारों-विकल्पों से जब तृष्णा छूट जाती है तभी तृष्णा का निरोध होता है। तृष्णा के नाश होने पर विषयों के संग्रह करने का निरोध होता है। उपादान के निरोध से भव अर्थात् लोक का निरोध होता है। भव के निरोध से जन्म-पुनर्जन्म का भी निरोध होता है। जन्म-पुनर्जन्म के निरोध से वृद्धत्व, मृत्यु, शोक, रुदन, दुःख, मन की खिन्नता, व्याकुलता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार सभी दुःखों का निरोध होता है।”

सुदर्शना ने ध्यानपूर्वक सब सुन लिया और फिर प्रश्न किया, “दुःख निरोध की ओर ले जाने वाले मार्ग क्या हैं? यदि संभव हुआ तो मैं अब उन्हीं मार्गों पर चलकर चिर सुख को प्राप्त करूँगी। अभी तक जिसे मैंने सुख समझा वही अन्त में दुःख का विशाल पर्वत बन गया।”

बौद्ध भिक्षु ने कहा, “आपकी जिज्ञासा सराहनीय है। जैसा कि बौद्ध-दर्शन में कहा गया है मैं उसीके अनुसार दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाले मार्गों को बतलाऊँगा।”

मुदर्शना ने बड़ी नम्रता के साथ कहा, “आप बड़े दयालु हैं जो मुझ चंडाल-कन्या से भी अपने धर्म के गूढ़ तत्वों को कह रहे हैं। यदि कोई ब्राह्मण होता तो मेरी छाया से ही दूर भागता। यदि कोई जैनी होता तो वह भी उसी प्रकार का वर्ताव करता। आप से अब कुछ छिपाना उचित नहीं है। मैं चंडाल कन्या हूँ यह आप जान चुके। मुदर्शना मेरा नाम है।

“यौवनागम के साथ साथ एक पुरुष मुझ से प्रेम करने लगा था। न उसने मुझ से मेरी जाति पूछी और न मुझको ही अपनी जाति बताई। मनुष्य से मनुष्य का प्रेम होना चाहिए यही उसका सिद्धान्त था। किसी न किसी प्रकार धन इकट्ठा करना और आनंद करना उसका ध्येय था। जन्म मरण की उसे चिन्ता न थी। स्वर्ग-नरक का उसे भय न था। मान-अपमान की चिन्ता से वह मुक्त था। धर्म या अधर्म दोनों को ही वह समान रूप से देखता था।

“उसी के साथ मैं पाटलिपुत्र गई। कई साल उसके साथ रही। उसका नाम था सुप्रतीत। कल रात में वह नहीं आया। उसका एक मित्र जो कि नित्य मेरे यहाँ आया करता था उसने चंडाल-कन्या समझकर मेरा अपमान करना चाहा। किसी प्रकार बाद में वह शान्त हुआ किन्तु सुप्रतीत का पता न चला कि वह कहाँ गया ?

“पाटलिपुत्र की जैसी शिथिल राज्य-व्यवस्था है वह सभी जानते हैं। न जाने कब किस अपराध में मैं जकड़ दी जाऊँ इसीलिए यहाँ चली आई हूँ। यदि आप पाटलिपुत्र जाँय और

सुप्रतीत का पता जानना चाहे तो सीधे धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के विशाल भवन पर चले जाँय । वहाँ पर अभय नाम का एक व्यक्ति मिलेगा, उससे सुप्रतीत का सारा वृत्तान्त विदित हो जायगा । मैं यहीं पर आपके लौट आने तक प्रतीक्षा करूँगी ।”

बौद्ध-भिन्नु ने सुदर्शना से कहा, “मैं एक सप्ताह में लौटूँगा । अच्छा, आप यह बतलायें कि अभय सुप्रतीत का मित्र है या नहीं ? यदि है तो उससे सुप्रतीत का पता चलेगा अन्यथा व्यर्थ है ।”

सुदर्शना ने कुछ सोचकर उत्तर दिया, “यह सत्य है कि अभय मेरे यहाँ कभी नहीं आया और मैं उसे पहिचानती तक नहीं हूँ तथापि कुछ दिन पूर्व सुप्रतीत से मैंने उसका नाम सुना था । मैं यह अच्छे प्रकार जानती हूँ कि दिन में एक बार सुप्रतीत उसके पास अवश्य जाता था । इतना तो अवश्यमेव सत्य है कि अभय की मित्रता का सुप्रतीत को बड़ा अभिमान था । पाटलि-पुत्र में आप सरलता से सुप्रतीत का पता लगा सकें इसीलिए मैंने अभय का नाम ले लिया है । अच्छा, अब आप दुःख-निरोध की ओर लेजाने वाले मार्गों को बतलाने की कृपा कीजिए ।”

बौद्ध-भिन्नु ने कहा, “दुःख-निरोध को ओर ले जाने वाले मार्ग आठ है जो तीन भागों में विभक्त हैं । इन्हें हम लोग आर्य अष्टांगिक मार्ग कहते हैं और इनके भागों को स्कंध कहते हैं ।”

सावधान होकर सुदर्शना बैठ गई और कहने लगी, “इस प्रकार कहिए ताकि मैं समझ सकूँ ।”

बौद्ध-भिन्नु ने कहा, “तीन स्कंध ये हैं—पहिला ज्ञान, दूसरा

सदाचार और तीसरा योग ।”

सुदर्शना—“ज्ञान, सदाचार और योग । मैंने इसे कंठस्थ कर लिया ।”

बौद्ध-भिन्नु—“ज्ञान को प्रज्ञा, सदाचार को शील और योग को समाधि कहते हैं ।”

सुदर्शना—“ज्ञान से प्रज्ञा, सदाचार से शील और योग से समाधि समझ लिया ।”

बौद्ध-भिन्नु—“सम्यक् दृष्टि, तथा सम्यक् संकल्प ज्ञान-स्कंध से संबंध रखते हैं ।”

सुदर्शना—“ज्ञान के लिए सम्यक् दृष्टि तथा सम्यक् संकल्प आवश्यक है ।”

बौद्ध-भिन्नु—“सदाचार के स्कंध में सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् जीविका है ।”

सुदर्शना—“सम्यक् वचन, सम्यक् कर्म तथा सम्यक् जीविका के बिना सदाचार असंभव है ।”

बौद्ध-भिन्नु—“सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि पर योग निर्भर है ।”

सुदर्शना—“योगी के लिए सम्यक् प्रयत्न, सम्यक्-स्मृति तथा सम्यक् समाधि अनिवार्य है ।”

बौद्ध-भिन्नु ने प्रसन्न होकर कहा, “मैं आप से बहुत प्रसन्न हूँ । मेरे लिए और क्या आज्ञा होती है ? आपके कारण मुझे भी अपने धर्म-दर्शन की पुनरावृत्ति का सौभाग्य प्राप्त हो गया ।”

सुदर्शना ने जिज्ञासा के भाव से प्रश्न किया, “यदि धर्म का तत्व कुछ शेष रह गया हो उसे भी आप कह सुनायें जिससे कि मुक्त पतिता का उद्धार तथा कल्याण हो सके। मैं आपकी कृपापात्री होने का सौभाग्य प्राप्त करना चाहती हूँ। आशा है, आप मेरा तिरस्कार नहीं करेंगे।”

बौद्ध-भिन्नु—“हम बौद्ध किसी का तिरस्कार नहीं करते, और तिरस्कृत होने पर भी किसी से ईर्ष्या नहीं करते। काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मात्सर्य ये जितने भी शत्रु हैं सभी को पराजित करना और जनता-द्वारा पराजित कराना ही हमारे धर्म-विजय का उद्देश्य है। संसार का कल्याण करने वाले बौद्ध-भिन्नु साम्प्रदायिकता के अभिशाप से मुक्त रहना चाहते हैं। हमारे बौद्ध-धर्म का तत्व बस इतना ही है कि समस्त कुकर्मों से दूर रहना, समस्त सुकर्मों को सम्पादन करना और जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में चित्त को संयमित करना। यह ब्रह्मचर्य न तो लाभ-सत्कार-प्रशंसा के लिए है, न सदाचार की प्राप्ति के लिए है, न समाधि प्राप्ति के लिए है, न ज्ञान के लिए है। यह सब चित्त की चिर मुक्ति के लिए है। यही धर्म का सार है और यही उसका अन्त है।”

सुदर्शना ने कहा, “अब मैं इसी स्थान पर चिर-मुक्ति का प्रयत्न करूँगी। आप आज से मेरे मार्ग-प्रदर्शक गुरु स्थानीय हुए। यदि विचलित हो जाऊँ तो सहारा अवश्य दीजिएगा।”

सूर्योदय के साथ ही साथ अजित धर्म महामात्र धर्मदर्शी के द्वार पर आकर उपस्थित हुआ। उसके साथ उपशान्ता भी थी। अभय ने अजित से प्रश्न किया, “आपके साथ ये कौन आई हुई हैं ?”

अभय के प्रश्न का उत्तर देते हुए अजित ने कहा, “नेत्रों को सुख देने वाली, मानवी शक्ति में दैवी शक्ति लाने वाली, संसार-सागर में उद्धार करने वाली तथा धर्मदर्शी और अजित के मध्य प्रेम-मन्दाकिनी के समान प्रवाहित होनेवाली देवी उपशान्ता मेरे साथ आई हुई हैं। यदि तुम अपने मानव जीवन को धन्य बनाना चाहते हो तो श्रद्धा के साथ इन्हें प्रणाम करो और धर्म-महामात्र से जाकर सूचित करो कि देवी उपशान्ता के साथ अजित दर्शन के हेतु सेवा में उपस्थित है।”

अभय ने देवी उपशान्ता को प्रणाम किया और भवन के भीतर जाकर धर्ममहामात्र धर्मदर्शी को सूचित किया, “अन्न-दाता की सेवा में देवी उपशान्ता के साथ उपस्थित होने के लिए अजित आज्ञा का प्रार्थी है। सेवक अभय के लिए अन्नदाता का आदेश प्रार्थनीय है।”

धर्ममहामात्र ने अभय से कहा, “देवी उपशान्ता का स्वागत धर्मदर्शी के लिए अप्रिय नहीं होगा। अभय ! यथाशीघ्र यथोचित सम्मान पूर्वक देवी उपशान्ता के लिए धर्मदर्शी का द्वार मुक्त कर दो और अजित से कहो कि वह प्रतीक्षक-भवन में

विश्राम करे ।”

अजित के समीप आकर अभय ने कहा, “अन्नदाता की आज्ञा से सेवक अभय देवी उपशान्ता के लिए प्रवेश द्वार को मुक्त कर रहा है किन्तु आपके लिए प्रतीक्षक-भवन में जाकर विश्राम करने का संकेत किया जा रहा है । आपका इतना सम्मान यथोचित समझा गया है ।”

अजित ने अभय से कहा, “यदि देवी उपशान्ता मुझे इस प्रकार छोड़कर जाना चाहें तो जा सकती हैं । मुझे किसी बात की आपत्ति न होगी । धर्ममहामात्र का स्वागत करना कम सौभाग्य का विषय नहीं है । मैं तो साधारण बौद्ध-भिक्षु हूँ । उपशान्ते ! विलम्ब उचित नहीं है ।”

अजित की मानसिक वेदना को अनुभव करती हुई उपशान्ता ने कहा, “अजित ! तुम मुझे किसके द्वार पर लाये हो ? ऐश्वर्य के लिए मानवता की हिंसा करनेवाला व्यक्ति माधुर्य के रसास्वादन का आनंद कब समझ सकता है ? ऐश्वर्य के लिए राजशक्ति की नींव में अपने पापों को छिपाने वाला पातर्की मनुष्य सौन्दर्य की उपासना में अपना बलिदान कब कर सका है ? ऐश्वर्य को ही निर्वाण का साधन समझकर तृष्णा की बैतरणी नदी में डूबने वाला पुरुष कब किसका उद्धार कर सका है ?

“ऐश्वर्य को ही धर्म का स्वरूप समझने वाला जीव कब धर्म के नियमों का पालन कर सका है ? ऐश्वर्य को ही प्रतिष्ठा का मुख्य अंग मानकर अमानुषिक अत्याचार करने वाला

पिशाच कब उचित न्याय कर सका है। ऐश्वर्य के लिए जिसने लोक-हित-भावना को ही कूटनीति का स्वरूप दे दिया है उससे दूर रहने में ही कल्याण है।

‘अजित ! तुम्हारे लिए प्रतीक्षक-भवन में विश्राम करने का संकेत धर्मदर्शी के मिथ्याभिमान का संकेत है। मैं ऐसे धर्म-महामात्र को आदर की दृष्टि से नहीं देख सकती। तुम यहाँ से अन्यत्र चलो।’

उपशान्ता को समझाते हुए अजित ने कहा, ‘धर्मदर्शी को तुम जानती नहीं हो। न्याय और धर्म दोनों ही समान रूप से यहाँ आदर पाते हैं। जहाँ पर न्याय और धर्म दोनों ही समान रूप से आदर पाते हैं वहाँ पर ऐश्वर्य तो अनुचर बनकर रहता ही है। धर्ममहामात्र की आज्ञा का उल्लंघन राजाज्ञा का उल्लंघन है। राजाज्ञा का उल्लंघन राजद्रोह का अपराध है। राजद्रोह का अपराधी अक्षम्य होता है। तुम्हें राजद्रोह के अपराध में नहीं फँसना चाहिए। उचित यही होगा कि अपने विचारों में तुरंत आवश्यक सुधार कर लो।’

उपशान्ता ने क्रोध करते हुए अजित से कहा, “धर्मदर्शी तथा धर्ममहामात्र में अन्तर है। मैं धर्मदर्शी के समीप आई हूँ। धर्ममहामात्र से मेरा कोई संबंध नहीं है।”

समझाते हुए अभय ने कहा, “देवि ! यह भवन धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का है। आशा है कि यदि मैं आपसे धर्मदर्शी के साथ आपका संबंध जानना चाहूँ तो कदाचित् आप अप्रसन्न न होंगी।”

अजित ने अभय से कहा, “इस समय तुम्हें ऐसी मूर्खता का प्रश्न नहीं करना चाहिए।”

उपशान्ता ने अजित और अभय दोनों से ही कहा, ‘ज्ञात होता है कि तुम दोनों ही सिद्धक और साधक हो। धर्ममहामात्र के पद पर धर्मदर्शी अधर्म का ताण्डव-नृत्य करना चाहता है और तुम दोनों ही नपुंसकों की भाँति ता थे ई, ता थे ई, करने का अभ्यास कर रहे हो। धिक्कार है तुम दोनों चंडालों को और धिक्कार है उसको—जिसके तुम दोनों ही इस समय प्रिय बने हुए हो।”

अभय ने उत्तेजित होकर उपशान्ता से कहा, “देवि ! आपका जीवन और मरण इस समय मेरे हाथ है।”

अजित ने अपने उत्तेजित-भाव को छिपाते हुए कहा, “उपशान्ते ! आर्जव और मार्दव—धर्म के इन दोनों गुणों को तुम भूल रही हो।”

उपशान्ता ने पूर्ववत् उत्तेजना के साथ उत्तर दिया, “सरलता का नाम आर्जव है और मृदुता का नाम मार्दव है। सरलता और मृदुता का उपयोग यहाँ करना ही अधर्म है। अपने को दुराचारियों की इच्छा पर छोड़ देना आर्जव है तो मैं ऐसे आर्जव का तिरस्कार करना इस समय उचित समझूँगी। यदि काम-वासना वालों के मृदु-हास्य के साथ अपने मृदु-हास्य को मिला देना ही मार्दव है तो इस समय उसकी आवश्यकता नहीं है।

“अब प्रश्न रहा जीवन और मरण का। इसके उत्तर में मुझे

इतना ही कहना है कि तुम जीवन के दुःख को और मरण के सुख को नहीं जानते। यदि जानते होते तो इस प्रकार जीवन-मरण के उत्तरदायी न बनते। जाओ, अपने अन्न-दाता के पास और जाकर कह दो कि उपशान्ता धर्ममहामात्र को अधर्म-महामात्र कह रही है।”

अजित ने उपशान्ता से प्रार्थना करते हुए कहा, “राजशक्ति को उत्तेजित नहीं करना चाहिए।”

“धर्ममहामात्र तक ही यदि राजशक्ति सीमित है तो ऐसी राजशक्ति का विनाश लोक-हित साधन के लिए सहायक होगा। जो कल होना है उसे आज ही हो जाना चाहिए।”

“राजशक्ति के प्रति तुम्हारा अभिशाप तुम्हारे लिए प्राण-दंड का कारण बन जायगा !”

इतने में धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के पास अभय दौड़ा गया और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। सुनते ही धर्मदर्शी ने कहा, “अजित और उपशान्ता दोनों को ही साथ आने दो।”

अभय ने आकर फिर कहा, “अन्नदाता आप दोनों को ही साथ आने की आज्ञा दे रहे हैं।”

इतना सुनते ही अजित ने प्रसन्न होकर कहा, “धर्ममहामात्र का स्वभाव आवश्यकता से अधिक सरल है। यदि ऐसी विशेषताएँ न होती तो क्यों इतने ऊँचे पद पर बैठाये जाते ?”

उपशान्ता ने कहा, “गिद्ध भी ऊँचे ऊँचे वृक्षों की ऊँची ऊँची शाखों पर ही बैठते हैं।”

अभय ने हाथ जोड़ कर कहा, “देवि ! बिलम्ब असहनीय

हो रहा है। हमारे अन्नदाता के लिए अभी अनेक आवश्यक कार्य हैं। आगन्तुकों के आने का भी समय हो रहा है।”

अजित ने भी अभय का साथ देते हुए कहा, “उपशान्ते ! विलम्ब करना व्यर्थ है।”

उपशान्ता ने साधारण ढंग से कहा, “यदि चलना चाहते हो तो चलो। मैं तैयार हूँ।”

जैसे ही उपशान्ता और अजित ने भवन के भीतर प्रवेश किया वैसे ही प्रवेश द्वार को बंद करके अभय द्रुतगति से आगे आगे मार्ग बतलाता हुआ चलने लगा। धर्ममहामात्र के विशाल भवन की शोभा का निरीक्षण करते हुए दोनों धर्मदर्शी के समीप जाकर खड़े होगये।

अभय ने तुरंत उनके बैठने के लिए आसन दिया। उन दोनों के बैठते ही धर्मदर्शी ने अजित से प्रश्न किया, “एक ही कमल कलिका पर मँडराने वाले दो भ्रमरों को तुमने कभी देखा है या यों ही मूर्खों की भाँति विना अनुभव के जीवन भर इधर उधर झुक मारते रहे?”

अजित निरुत्तर होकर बैठा रहा। उपशान्ता ने कहा, “आशा करती हूँ कि विद्वानों की भाँति जीवन भर इधर उधर झुक मारे बिना ही अनुभव कर लेने वाले धूर्त धर्मदर्शी ने अवश्य यह देखा होगा कि एक ही कमल-कलिका पर दो भ्रमर किस प्रकार गुनगुनाते हुए मँडराते हैं।”

अभय ने हाथ जोड़ कर कहा, “देवि! धूर्त शब्द राज-विद्रोहात्मक है। यदि आपने पुनर्वार इस शब्द का अथवा ऐसे ही

भावात्मक शब्द का प्रयोग किया तो आपके विरुद्ध षडयंत्र करने का अपराध घोषित किया जायगा. अतएव यहाँ पर आप संयत भाषा का प्रयोग करें। उचित और मर्यादित शब्दों को श्रवण करना और सन्तोषजनक उत्तर देना हमारे अन्नदाता तथा मौर्यवंश नरेश के धर्ममहामात्र का शिष्टाचार है। अनुचित और अमर्यादित शब्दों का जो प्रयोग करते हैं उन्हें सचेत कर देना हमारी सेवा का एक विशेष अंग है। अब आप अपने अपने भाग्य का निर्णय अपनी अपनी वाणी से कर सकेंगे ऐसी आशा है। अन्यथा आप दोनों के साथ वही कार्यवाही की जायगी जो एक राजद्रोही के साथ नियमानुसार की जाती है।”

उपशान्ता अपने आसन से उठकर खड़ी हो गई और बोली, “यदि धर्मदर्शी जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्ममहामात्र का ढोंग रचते हैं तब ऐसी दशामें यहाँ से प्रस्थान करना उचित समझना चाहिए। इनका पदाभिमान ही यदि सर्वस्व है तो हमारा सर्वस्व हमारा स्वाभिमान है।”

धर्मदर्शी शान्त भाव से उठकर चले गये। उनका इस प्रकार जाना ही सूचित कर गया कि नियमानुसार कार्यवाही की जाय। अपने कुछ सहयोगियों को संकेत से बुलाकर अभय ने उपशान्ता से कहा, “आप इस समय राजद्रोह की अपराधिनी हैं। समाहर्ता से परामर्श करने के पश्चात् “कष्टकशोधन*।” में आप उपस्थित की जायगी। यदि आप उचित समझें तो अन्नदाता को प्रसन्न करके इस अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना

* कष्टकशोधन—फौजदारी न्यायालय

कर लें।”

उपशान्ता ने शान्त भाव से कहा, “अभय ! जिसे तुम अपना अन्नदाता कहते हो वह प्रथम श्रेणी का विश्वासघातक है। मैं, अजित, और तुम्हारा पापी अन्नदाता ये तीनों ही वाल्य-काल के साथी हैं। तुम्हारे अन्नदाता ने सब से कहकर मुझे बदनाम किया। अन्त में मैंने एक जैनी के यहाँ नौकरी कर ली। इसके बाद अजित को तब तक सताता रहा जब तक अजित बौद्ध-भिन्नु न बना। धर्म का ढोंग रचकर यह मौर्य-वंश-नरेश का धर्म महामात्र बन गया है। यह सत्य है कि मेरा प्रेम अजित के साथ रहा, अजित के साथ है और अजित के साथ रहेगा।

“अजित के प्रेम ने इस दुष्ट के पास तक आने में मेरी सहायता की। किन्तु देखती हूँ कि इस समय अजित का प्रेम भी मुझे धोखा दे रहा है।”

अजित ने उपशान्ता से कहा, “संसार के कल्याण के लिए ऐसा करना पड़ा है।”

उपशान्ता ने प्रश्न किया, “तुम क्या कह रहे हो, यह मेरी समझ में नहीं आया।”

“सर्वप्रथम विश्वास को अपना साथी बनाओ। यदि ऐसा कर सकी तो फिर सब समझ में आ जायगा।”

“बौद्ध-भिन्नु के रूप में ऐसी राजनीति में प्रवेश करना तुम्हारे लिए ही नहीं अपितु बौद्ध धर्म के लिए कलंक का कारण बन जायगा। ऐसा स्वरूप और ऐसा कार्य ! अजित ! तुम किस प्रलोभन में पड़कर ऐसा कर रहे हो ? क्या धर्मदर्शी के विरोधी

बनना चाहते हो ?”

अजित ने संकेत करते हुए कहा, “मैं अपने मित्र का शत्रु नहीं बन सकता और न मैं अपने आश्रयदाता का अमंगल चाहने वाला हो सकता हूँ और मेरे लिए स्वयं राजराजेश्वर के समान माननीय होनेवाले धर्ममहामात्र का न कण्टक बन सकता हूँ। तुम जैसा चाहो वैसा विचार कर लो। संभव हुआ तो मैं अपनी तपस्या से तुम्हें मुक्ति दिलाऊँगा। अभय से विरोध न करना। अब मैं कुक्कुटाराम को जाता हूँ। इस समय मुझे क्षमा करना।”

— — —

१०

अजित के जाते ही उपशान्ता ने अभय से कहा, “मैं तुम्हारे अन्नदाता से कुछ कहना चाहती हूँ।”

“लीजिए यह लेखनी और ये भोज पत्र। जो कुछ आप हमारे अन्नदाता से कहना चाहती हैं उसे इस समय लिपिबद्ध कर दीजिए। यदि मर्यादित भाषा का प्रयोग होगा तो उसे ले जाकर मैं उनके सम्मुख उपस्थित कर दूँगा, अन्यथा आपके सामने उसे जला दूँगा। मैं अपने कर्तव्य पालन में सचेष्ट रहता हूँ। आप चाहे रुष्ट हों अथवा तुष्ट हों, मैं इसकी चिन्ता नहीं करता।” इतना कहकर अभय ने लेखनी और भोज पत्र को दे दिया और फिर उपशान्ता के समीप से दूर जाकर अपने अन्नदाता के कार्यों में एकाग्रचित्त से लग गया।

उपशान्ता ने कई एक भोज पत्रों को अपने समीप रख लिया और लिखने लगी, “मेरा यह शरीर बत्तीस प्रकार के दुर्गन्धियों से पूर्ण है। यह न तो देवों का बनाया हुआ है, न ब्रह्मा का बनाया हुआ है, न स्वर्णमय है, न मणिमय है, न हरिचन्दनमय है, न कमल के गर्भ से उत्पन्न हुआ है, न अमृतौषधि से पूर्ण है।

“यह श्मशान को बढ़ानेवाला है। तृष्णा से उत्पन्न है। शोकों का निदान है। विलाप का कारण है। सब रोगों का आलय है। कर्मों का भोगने वाला है। अविद्या से घिरे हुए लोगों का यह शरीर आकर्षक ज्ञात होता है किन्तु वास्तव में विष-वृक्ष के समान यह शरीर अनेक दोषों से युक्त है।

“यदि किसी प्रकार इस शरीर के भीतर का भाग बाहर आ जाय तो यह निश्चय है कि काक और श्वान को हटाने में ही समस्त दिन व्यतीत हो जाय। इसीलिए पंडितों ने इस दुर्गन्ध-युक्त अशुचि-पूर्ण शरीर की निन्दा की है। इस पर जो रीझते हैं वे मूर्ख हैं।

“हम स्त्रियाँ आये हुए क्रोध को रोकने में असमर्थ हैं। चाहें कोई कितना अधिक उपकार क्यों न किये हों हम उसे भूल जाती हैं। प्रेम को शून्य करनेवाली ही बातें करती हैं। मित्रों में फूट डालना, भेद उत्पन्न करना हम लोगों का स्वभाव है। हम ऐसे ही दुर्गुणों से युक्त हैं।

“आपका हम स्त्रियों से प्रयाजन ही क्या है? आप धर्म महामात्र धर्मदर्शी हैं। मैथुन-रहित जो परिशुद्ध ब्रह्मचर्य है,

उसका आप पालन करें। ध्यान-सुख, मार्ग-सुख तथा फल-सुखप्राप्त हो जायगा। यह सुख अनन्तकाल तक आपका साथ नहीं छोड़ेगा।”

इतना सब लिखने के बाद उपशान्ता ने अभय से कहा, “यदि कहीं भी अमर्यादित भाषा का प्रयोग हुआ ही तो बतला देना। मैं आवश्यक परिवर्तन करके उसका सुधार कर दूँगी।”

अभय ने उसको पढ़कर कहा, “इसमें सन्देह नहीं कि भाषा मर्यादित है किन्तु इस भाषा द्वारा प्रकट किये गये भाव हम लोगों के भावों से सर्वथा भिन्न हैं। ज्ञान की पराकाष्ठा हाने पर भी हम लोगों को इसके शब्द काष्ठ की भाँति शुष्क प्रतीत हो रहे हैं। मैं अपने अन्नादाता के सम्मुख जाकर इसे उपस्थित करता हूँ।”

कहने के लिए तो अभय वहाँ से चला गया किन्तु धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के समीप न जाकर वह एक दूसरे द्वार से निकल कर समीप के उद्यान में चला गया। इधर-उधर घूम कर वह जैसे ही द्वार देश पर आया वैसे ही उसे एक बौद्ध-भिक्षु आता हुआ दिखाई पड़ा। वह यथाशीघ्र जिस मार्ग से आया था उसी मार्ग से जाकर भीतर से बन्द किये गये द्वार को खोलने लगा। द्वार को वह खोल ही चुका था कि इतने में वही बौद्ध-भिक्षु आकर उसके सामने खड़ा हो गया। अभय ने उससे प्रश्न किया, “आपके आगमन का उद्देश्य क्या है?”

उस बौद्ध-भिक्षु ने शांत भाव से कहा, “इसे कब किसने समझने का प्रयत्न किया है?”

विनीतभाव से अभय ने उत्तर दिया, “समझाने का भी किसी ने प्रयत्न नहीं किया है ?”

बौद्ध-भिन्नु—“यह विशाल-भवन किसके लिए निवास स्थान का काम कर रहा है ?”

अभय—“जीवन के प्रत्येक कार्य में धर्म का दर्शन करनेवाले धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का यह निवास-स्थान है। आपका उनसे प्रयोजन क्या है ?”

बौद्ध-भिन्नु—“मेरा उनसे कुछ भी प्रयोजन नहीं है।”

अभय—“तब फिर किससे प्रयोजन है ?”

“मेरा प्रयोजन केवल अभय से है। उसके लिए मैं एक शुभ सन्देश लाया हूँ। क्या मैं उसका पता जान सकता हूँ ? यदि कष्ट न हो तो उससे जाकर कह दो कि एक भिन्नु उसे स्मरण कर रहा है।”

अभय ने हाथ जोड़ कर कहा, “अभय मेरा ही नाम है। कहिये, क्या आज्ञा है ?”

“सुप्रतीत को जानते हो ?”

“मेरे एक मित्र का नाम सुप्रतीत है।”

“तुम्हारा मित्र इस समय किस स्थान पर मिलेगा ?”

“इस प्रश्न का उत्तर दे सकना इस समय कठिन है।”

“क्या उसका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है ?”

“जी नहीं।”

“कभी किसी समय वह तुम्हारे पास आयेगा या नहीं ?”

“कल तक तो आया था, आज आता है या नहीं। इसे मैं

नहीं कह सकता ।”

“यदि आये तो इतना अवश्य कह देना कि सुदर्शना ने उसे स्मरण किया है ।”

“चंडाल-कन्या सुदर्शना या और कोई ?”

“क्या तुम सुदर्शना को जानते हो ? यदि जानते हो तो किस सुदर्शना को ?”

“सुप्रतीत से कल ज्ञात हुआ था कि वह जिस सुदर्शना से प्रेम करता है वह एक चंडाल की कन्या है । इस पर मैंने उसे यथाशक्ति समझाने का प्रयत्न किया था । संभव है कि रुष्ट हो जाने के कारण वह मेरे समीप अब न आये ।”

अभय की इन सब बातों को सुनकर उस बौद्ध-भिन्नु ने कहा, “चंडाल-कन्या सुदर्शना अब बौद्ध धर्म-भिन्नुणी बन चुकी है । उसका दर्शन मानव-जीवन के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाला है । उसकी वाणी सांसारिक ज्वालाओं से जले हुए प्राणियों के लिए अमृत की वर्षा करने वाली सिद्ध हो चुकी है ।

“इस समय वह जिस आसन पर विराजमान है वह आसन उसके पवित्र होने की घोषणा कर रहा है । यदि हो सके तो किसी दिन तुम मेरे साथ उसके समीप चलना । तुम्हारा जीवन सफल हो जायगा ।”

अभय ने उस बौद्ध-भिन्नु से प्रश्न किया, “सुदर्शना का शुभ दर्शन कहाँ पर होगा ?”

पाटलिपुत्र से बारह गोरुत* दक्षिण की ओर सीधे राजमार्ग

* गोरुत—१ कोस = २ मील

पर एक विशाल पीपल का वृक्ष है। उसी के नीचे उस देवी ने तपस्या करने का निश्चय किया है।”

इतना कहकर वह बौद्ध-भिक्षु जाने को प्रस्तुत हुआ। इतने में एक नवयुवक आ पहुँचा। उसने आते ही कहा, “धर्ममहामात्र धर्मदर्शी से आवश्यक कार्य है। जाकर सूचित करो कि सेनापति पुण्यमित्र की आज्ञा से सेवक जयसेन द्वार पर उपस्थित है।”

अभय ने अभिनन्दन करते हुए कहा, “बिना पूर्व सूचना के आपका आगमन नियम-विरुद्ध है। इस समय धर्म-महामात्र राज्य-संबंधी धार्मिक समस्याओं में तल्लीन हैं।”

जयसेन ने अभय से कहा, “तुम्हारा काम सूचित करने का है। तर्क करने का नहीं।”

“मैं अभी जाकर सूचित किये देता हूँ किन्तु उत्तर वही मिलेगा जो कि मैं कह चुका हूँ।”

“यदि ऐसा है तो तुम मत जाओ। मैं स्वयं जाकर दर्शन प्राप्त करता हूँ। सेनापति तथा सेना के लिए तुम्हारे नियम उपयुक्त नहीं हैं।” इतना कहकर जयसेन भीतर की ओर बढ़ा। उसे रोकते हुए अभय ने कहा, “अन्नदाता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होने पायेगा।”

“यदि ऐसा है तो मैं भी नहीं चाहता कि तुम्हारे अन्नदाता की आज्ञा का उल्लङ्घन हो। जाओ और जाकर उन्हें मेरे आगमन का वृत्तान्त सूचित करो। तब तक मैं यहाँ पर प्रतीक्षा करता हूँ।” कहता हुआ जयसेन जिस स्थान पर था उसी स्थान पर

खड़ा रह गया। अभय वहाँ से चला गया। बौद्ध-भिक्षु जो कि अभी तक शान्त भाव से सब बातें सुन रहा था वह जयसेन से बोला, “भगवन् ! क्या मैं आपसे कुछ कह सकता हूँ ?”

जयसेन ने साधारण ढंग से उत्तर दिया, “आपकी सज्जनता सराहनीय है। आप अपनी भावनाओं को प्रकट कीजिये। जब तक धर्ममहामात्र के यहाँ से कोई सदुत्तर नहीं आता तब तक मैं आपके सत्संग का लाभ अवश्य उठाना चाहूँगा। यदि आप लोग संसार में न होते तो यह संसार उलट गया होता।”

प्रसन्नता प्रकट करते हुए उस बौद्ध-भिक्षु ने जयसेन से कहा “क्या मैं सेनापति पुण्यमित्र से मिल सकता हूँ ? मैंने सुना है कि उनसे बढ़कर इस समय दूसरा कोई सत्यप्रतिज्ञ नहीं है।”

‘सैन्य-संचालन के कार्य में सत्यप्रतिज्ञ होना ही पड़ता है। जीवन और मरण को समान समझकर जो नित्य समरांगण की प्रतीक्षा करते रहते हैं उनसे बढ़कर दूसरा और कौन ज्ञानी होगा।’

“उनसे मिलने का कौनसा निश्चित समय है ? मेरे चित्त में उनके दर्शनों की लालसा उत्पन्न हो रही है।”

‘प्रातःकाल जब आप को सुविधा हो उनसे जाकर मिल सकते हैं। बस, मैं इतना ही सावधान कर देना उचित समझता हूँ कि आप उनसे राजनीति की कोई बात नहीं कीजिएगा।’

“मैं इस आदेश को नहीं भूलूँगा। आपकी आज्ञा से मैं प्रस्थान करना चाहता हूँ।”

जयसेन ने उस बौद्ध-भिक्षु से कहा, “आज्ञापालक किस

प्रकार आपको आज्ञा दे सकता है ?”

“आपका तथा सेनापति-पुष्यमित्र का मैं कल्याण चाहता हूँ ।” इतना कह कर वह चला गया ।

उसके चले जाने के बाद जयसेन मन ही मन कहने लगा, “इतना बिलम्ब क्यों हो रहा है ?”

थोड़ा सा समय और बीत गया । अधीर होकर जयसेन प्रवेश द्वार को पार कर भीतर चला गया । वहाँ जाकर देखता है कि उपशान्ता और अभय दोनों परस्पर पूर्ण उत्तेजना के साथ विवाद कर रहे हैं ।

जैसे ही जयसेन वहाँ पर पहुँचा वैसे ही अभय ने उस से कहा, “किसकी आज्ञा से आप यहाँ तक आये हैं ? यदि आप राजद्रोह के अपराध से बचना चाहते हैं तो तुरन्त यहाँ से चले जाँय । यह धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का भवन है ।

“राजाज्ञा की मर्यादा का भंग करना नीति-विरुद्ध है । यदि आप सेनापति पुष्यमित्र के आज्ञा-पालक न होते तो अभय आप के साथ ऐसी बातें न करके वैसा ही बर्ताव करता जैसा कि राजद्रोह के अपराधी के साथ किया जाना चाहिए । मैं यह भली भाँति जानता हूँ कि सेनापति के जितने कर्मचारी हैं सभी उद्दण्ड और उच्छृंखल हैं ।

“आज आप के इस बर्ताव से मैं अनुमान कर रहा हूँ कि यदि आप जैसे उद्दण्डों पर नियंत्रण का उपयोग न किया गया तो यह मौर्य-वंश का राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा । अभिमानी सेनापति का अभिमान चूर्ण किये बिना राज्य का कल्याण होना

असंभव है । आप शीघ्र यहाँ से लौट जाँय ।”

अभय की इन बातों को सुनकर जयसेन को क्रोध आ गया । उसने उसे पकड़ कर ऐसा झुकझोरा कि वह चिल्लाने लगा । उसके चिल्लाते ही धर्ममहामात्र जिस प्रकार बैठे थे उसी प्रकार उठकर दौड़े आये । उनके कर्मचारी जो कि उस समय वहाँ पर उनके पास उपस्थित थे वे भी उस स्थान पर आकर इकट्ठे हो गये । जयसेन को देखते ही वे अभय से कहने लगे, “तुम इस प्रकार क्यों चिल्ला रहे थे ? क्या यह दुराचारी तुम्हारा बध करने का प्रयत्न कर रहा था ?”

अभय ने कहा, “अन्नदाता की दया से मैं बच गया, नहीं तो प्राण चले ही गये थे ।”

धर्मदर्शी ने उपस्थित कर्मचारियों से जयसेन की ओर संकेत करते हुए कहा, “यह राजद्रोही है । राजाज्ञा तथा मेरी आज्ञा का उल्लंघन करके इसने प्रवेश किया है । इसे बन्दी कर लो और तुरंत कंटक-शोधन में उचित कार्यवाही के लिए सूचना भेज दो ।”



११

इन सब घटनाओं के साथ साथ मौर्य-शासन का चक्र परिवर्तित होने लगा । जयसेन के बन्दी होने के समाचार से समस्त पाटलिपुत्र एक विकट समस्या में पड़ गया । एक दिन

के बाद दूसरा दिन, दूसरे दिन के बाद तीसरा दिन और तीसरे दिन के बाद चौथा दिन, इस प्रकार तीन महीने बीत गये ।

धर्मस्थीय^१ न्यायालय के तीनों धर्मस्थों^२ ने आत्मायों^३ के परामर्श से कण्टशोधन न्यायालय में जयसेन के अभियोग को निर्णयार्थ स्थानान्तरित कर दिया । अभय के वक्तव्य का खण्डन करती हुई साक्षिणी उपशान्ता ने जो कुछ कहा उसका प्रभाव न्यायाधीश पर न पड़ा । उसने जयसेन को अपराधी घोषित किया और प्राणदण्ड की स्वीकृति के लिए प्राड्विवाक^४ के पास समस्त कार्यवाही को लिपिवद्ध कराके भेज दिया ।

मौर्य-वंश के शासनकाल में राजा की अनुपस्थिति में प्राड्विवाक ही सर्वोच्च न्यायाधीश माना जाता था । जयसेन का कार्यवाही को पढ़ कर प्राड्विवाक ने विचार किया, “सेनापति पुष्यमित्र की आज्ञा से जयसेन धर्मदर्शी के भवन पर गया और धर्ममहामात्र के पद से उसे वन्दी बनाने का आदेश धर्मदर्शी ने दिया । धर्ममहामात्र तो स्वयं राजा का ही दूसरा स्वरूप है ।”

ऐसा विचार कर वह स्वयं बृहद्रथ के समोप दौड़ा गया और समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ।

बृहद्रथ ने प्राड्विवाक से साधारण ढंग से कहा, “आप अशान्त न हों । शान्ति के साथ उचित आसन पर बैठें और फिर आवश्यक शंकाओं का समाधान कर लें ।”

१. धर्मस्थीय—दीवानो । २. धर्मस्थ—न्यायाधीश । ३. अमात्य—वकील । ४. प्राड्विवाक—राजा की अनुपस्थिति में न्याय के कार्य में राजा का प्रतिनिधि ।

मौर्य-राज के इस आदेश का पालन करता हुआ प्राङ्ग्विवाक अपने आसन पर बैठ गया । उसके बैठ जाने पर बृहद्रथ ने प्रश्न किया, “आपके दृष्टिकोण से राजा श्रेष्ठ है, अथवा सेनापति ? यदि राजा श्रेष्ठ है तो फिर सेनापति से भयभीत होना ही मूर्खता है ।”

हाथ जोड़ कर प्राङ्ग्विवाक ने कहा, “आप धर्मप्रवर्तक हैं । आपकी समानता तुच्छ सेनापति नहीं कर सकता किन्तु प्रार्थना इतनी है कि न्याय उचित होना चाहिए ।”

बृहद्रथ ने प्राङ्ग्विवाक को समझाते हुए कहा, “धर्ममहामात्र को क्या आप मूर्ख समझते हैं ? धर्म की बागडोर जिसके हाथ में है वह मूर्ख नहीं हो सकता ।”

प्राङ्ग्विवाक—“धर्ममहामात्र बड़े ही योग्य पुरुष हैं ।”

बृहद्रथ—“तो क्या उन्होंने अनुचित-उचित का विचार न किया होगा ?”

प्राङ्ग्विवाक—“अवश्य किया होगा ।”

बृहद्रथ—“जयसेन को बंदी करने का आदेश धर्ममहामात्र का है । इसीसे यह सिद्ध है कि उसने राजाज्ञा का उल्लंघन करते हुए भीषण अपराध अवश्य किया होगा ।”

प्राङ्ग्विवाक—“निस्सन्देह आपका यह तर्क युक्तिपूर्ण है ।”

बृहद्रथ—“कण्टक-शोधन का न्यायाधीश पक्षपात शून्य है । आज तक उसका किया हुआ न्याय सत्य के आधार पर रहा । उसके अमात्य भी पूर्ण विद्वान् हैं । ऐसी दशा में उसने न्याय भी उचित ही किया होगा । चाहे सेनापति पुण्यमित्र का सेवक

हो या किसी अनाथ का साथी हो । सभी न्यायालय में समान हैं । मौर्य-राज के उच्च न्यायाधीश होने पर भी जो पक्षपात-शून्यता आप में नहीं है वह उसमें है ।”

प्राङ्ग्विवाक—“आपका कथन माननीय है ।”

बृहद्रथ—“जब ऐसे निर्भीक न्यायाधीश ने न्याय किया है तब उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता क्या है ?”

प्राङ्ग्विवाक ने नम्रता के साथ कहा, ‘साधारण दृष्टिकोण से कुछ भी नहीं है ।’

बृहद्रथ ने प्रश्न किया, “तब फिर आप इस प्रकार क्यों अव्यवस्थित से हो रहे थे ?”

प्राङ्ग्विवाक ने साहस करते हुए कहा, “यदि आप धैर्य-पूर्वक श्रवण करें तो मैं कुछ निवेदन करूँ ।”

बृहद्रथ ने उत्तर देते हुए कहा, “मैं श्रवण करूँगा । आप अपना वक्तव्य कह चले ।”

प्राङ्ग्विवाक, “आप इस बात की प्रतिज्ञा करें कि आप क्रोध नहीं करेंगे तथा राज्यहित के जितने कार्य हैं उनके लिए तत्पर होने का प्रयत्न शीघ्र करेंगे ।”

बृहद्रथ—“मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि क्रोध नहीं करूँगा ।”

प्राङ्ग्विवाक ने कहा, “पुत्र जिस प्रकार पिता के घर में निर्भय घूमते हैं उसी प्रकार जिस के राज्यमें प्रजा निर्भय विचरण करे, वही राजा है । आपके राज्य में ऐसा नहीं है ।

“जिस राजा के पुरवासी और राष्ट्रवासी अपनी सम्पत्ति छिपाते न हों और नीति तथा अनीति को जानते हों, वही राजा

है। आपके राज्य में सभी अपनी सम्पत्ति छिपाते हैं और नीति तथा अनीति को नहीं जानते। यदि जानते होते तो ऐसी दुर्घटना न होती।”

इतना कह कर प्राड्विवाक शीघ्रता के साथ बृहद्रथ के सामने से चला गया। उसके जाते ही बृहद्रथ ने अभिमान भरे शब्दों में अपने प्रधान मंत्री से कहा, “प्राड्विवाक की बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी है। यदि मैं निकालता तो असन्तुष्ट हो जाता। अच्छा ही हुआ कि वह स्वयं चला गया।”

प्रधान मंत्री ने यथोचित सम्मान को प्रदर्शित करते हुए कहा, “ब्राह्मण ऐसे होते ही हैं। यदि इनकी बुद्धिभ्रष्ट न होती तो ये भगवान-बुद्ध का विरोध न करते। मौर्य-वंश के शासकों की पक्षपात शून्यता तथा उदारता का इन सबों ने आवश्यकता से अधिक लाभ उठाया है। सेनापति पुष्यमित्र भी ब्राह्मण है। जयसेन भी ब्राह्मण है। पतंजलि जो कि मध्य भारत का ब्राह्मण विद्वान् है वह भी कम षड्यंत्रकारी नहीं है। मेरा अनुमान है कि षड्यंत्र के लिए ही वह पाटलिपुत्र आया हुआ है। राज्य के कल्याण के लिए उचित होगा कि श्रीमान् इन ब्राह्मणों को राज्य की सीमा से निकल जाने का आदेश निकाल दें अन्यथा घोर संकट की संभावना है।”

प्रधान मंत्री की बातों को सुनकर बृहद्रथ ने कहा, “इस प्रस्ताव को मंत्रि-परिषद् में उपस्थित करना और गुप्तचरों के अध्यक्ष से कहना कि वह बराबर सूचनाएँ तथा समाचार भेजता रहे। कण्टकशोधन न्यायालय में दूत को भेज दो और

यह तुरंत कहला दो कि “मैं बृहद्रथ मौर्य, मगध-राजेश्वर इस न्याय का समर्थन करता हूँ। धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के भवन में बिना आज्ञा के प्रवेश करने के अपराध में जयसेन के लिए प्राणदण्ड उचित है। और यह भी उचित होगा कि समस्त पाटलिपुत्र में जयसेन को घुमाया जाय और किसी सार्वजनिक स्थान में प्राणदण्ड दिया जाय ताकि राजद्रोहियों को स्मरण रहे कि राजद्रोह का परिणाम कितना दुःखद होता है। यदि ऐसा न किया जायगा तो राजद्रोहियों की संख्या में वृद्धि होती जायगी। ऐसा मैं नहीं चाहता। दो सप्ताह तक जयसेन घुमाया जायगा। उसके बाद तीसरे दिन प्राणदण्ड दिया जायगा। साथ ही साथ यह भी घोषित कर दिया जाय कि जिसमें शक्ति हो वह जयसेन को छुड़ाने का भी प्रयत्न कर सकता है।”

प्रधान मंत्री ने नम्रता के साथ कहा, “श्रीमन्! अन्तिम वाक्य अनुचित है।”

बृहद्रथ ने समझाते हुए कहा, “जितने राजद्रोही होंगे सभी प्रकट हो जायेंगे।”

प्रधान मंत्री—“राजनीति की दृष्टि से यह राजा के स्वेच्छाचार को प्रकट करता है।”

बृहद्रथ—“तुम इसकी चिन्ता न करो। राजा की जो नीति होती है वही राजनीति है।”

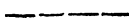
प्रधान मंत्री—“श्रीमन्! राज्य-संचालन की नीति राज नीति कहाती है।”

बृहद्रथ—“तुम अपना व्याकरण पतंजलि को सुनाना।

यहाँ मैं जैसा कहता हूँ वैसा ही करना होगा । शीघ्र मेरे आदेश को कष्टकशोधन न्यायालय को भेज दो ।”

प्रधान मंत्री ने दूत को बुलाया । दूत अभिवादन करता हुआ सामने उपस्थित हो गया । आवश्यक आदेश को लिपिबद्ध करके प्रधान मंत्री ने उसे दे दिया । वह उसे लेकर कष्टकशोधन न्यायालय में पहुँच गया । अपने को सफल मनोरथ समझकर न्यायाधीश अधिक प्रसन्न हुआ । उसने अपने निर्णय को और मौर्यराज बृहद्रथ के आदेश को सुना दिया ।

सुनते ही अभय बहुत प्रसन्न हुआ । उपशान्ता को बड़ा दुःख हुआ । अमात्य वर्ग जैसा खड़ा था वैसा ही खड़ा रहा । जयसेन ने साहस करते हुए कहा, “प्राणदण्ड के न्याय तक तो मैं कुछ नहीं कहना चाहता किन्तु पाटलिपुत्र में दो सप्ताह तक मेरा घुमाया जाना, उसके बाद फिर तीसरे दिन सार्वजनिक स्थान में मेरे लिए प्राणदण्ड का प्रबंध करना, इतना ही नहीं, जिसमें शक्ति हो उसके लिए मेरे छुड़ाने का प्रयत्न करने की घोषणा करना क्या अर्थ रखता है ! यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है । परमात्मन् ! अब तेरा ही भरोसा है ।”



१२

सेनापति पुष्यमित्र अपने नये भवन के निर्माण कराने में लगा हुआ था । विजली गिरने से जले हुए वृक्ष की राख लेकर उसमें उतनी मिट्टी मिलाकर धतूरे के जल के साथ गूँथकर

दीवारों पर उसका लेप किया जा चुका था। गुड़च, शंखपुष्पी कृष्णपाँढरी और करौंदे के वृक्ष पर लगे बन्दे की माला अन्तः-पुर में लगाई जा चुकी थी। बिल्ली, नेवले, हिरन और मोरों के लिए स्थान बनाया जा रहा था। तोता, मैना के पिंजड़े स्थान-स्थान पर टँगे हुए थे। क्रौंच पक्षी तथा बड़े भौरों के लिए भी स्वाभाविक स्थान बन रहा था। कोयल, चकोर तथा जीवन्जीव के लिए भी स्थान, कुञ्ज, बाटिका आदि बन रहे थे। उसी के नीचे एक छोटा सा मोहन-गृह भी बनवाया गया था। मोहन-गृह के नीचे नीचे चार सुरंग बनवाये गये थे। चारों सुरंग अपने-अपने ढग के अनोखे थे। ये चारों सुरंग कुछ दूर चलकर किसी न किसी उद्यान के किसी कुञ्ज में समाप्त होते। चारों दिशाओं से इनके द्वारा मोहनगृह तक आना संभव था। प्रत्येक सुरंग मार्ग में आठ द्वार थे जो कि मोहन गृह की ओर से बन्द थे। अपने ऐसे ही भवन के निर्माण कराने में लगे हुए सेनापति पुण्यमित्र के पास उपशान्ता पहुँच गई।

उपशान्ता को देखते ही पुण्यमित्र ने उसका उचित अभिवादन किया और कहा, “देवि ! मुझ सेवक के समीप किस हेतु आपका आगमन हुआ है ?”

उपशान्ता ने अपना सारा वृत्तान्त बतलाते हुए कहा,— “जयसेन का बस इतना ही अपराध है। इसके लिए उसे प्राणदण्ड का आदेश और वह भी इस प्रकार हुआ है।”

पुण्यमित्र ने अविचल भाव से कहा, “मैं भी मौर्य-राज्य का एक तुच्छ सेवक हूँ। राजा की आज्ञा का जो उल्लङ्घन करता

है उसके लिए जो दण्ड दिया जाय वह उचित ही है ।”

“किन्तु जयसेन ने एक स्त्री के सतीत्व की रक्षा के लिए ऐसा किया है ।”

“जिसकी रक्षा के लिए जयसेन ने ऐसा दुस्साहस किया है उसीको चाहिए कि वह उसके उद्धार के लिए पूर्ण प्रयत्न करे । सेनापति पुष्यमित्र इस संबंध में कुछ नहीं कर सकता ।”

“जयसेन को बचाना चाहिए—यही समझकर मैं आपके समीप दौड़ी आई हूँ । आप कोई उपाय अवश्य बतलाएँ ।”

“आप धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के ही पास जाँय । उनसे बढ़ कर दूसरा और कोई नहीं है ।”

इतने में अजित आ पहुँचा । उसके आते ही उपशान्ता ने उससे कहा, “जयसेन के लिए प्राण-दण्ड का आदेश हुआ है । तुम जयसेन को छुड़ाने का शीघ्र प्रयत्न करो ।”

अजित ने उपशान्ता को समझाते हुए कहा, “जिनका सेवक है वे स्वयं बचाने का कोई न कोई उपाय अवश्य सोचेंगे ? तुम व्यर्थ में व्याकुल हो रही हो ।”

सेनापति पुष्यमित्र ने अजित को अपने पास बुलाया और प्रश्न किया, “जयसेन को तुम किसका सेवक समझते हो । भलीभाँति सोच-विचार कर उत्तर देना ।”

“सेनापति पुष्यमित्र का सेवक जयसेन है ऐसा ही मैं जानता हूँ ।”

“सेनापति पुष्यमित्र किसका सेवक है ?”

“मौर्य-राज बृहद्रथ का ।”

“ऐसी दशा में जयसेन किसका सेवक हुआ ?”

“मौर्य-राज बृहद्रथ का ।”

“उपशान्ता के लिए उसने राजाज्ञा का उल्लङ्घन क्यों किया ?”

“इसे जयसेन बता सकता है या उपशान्ता भी कुछ बता सकती है ।”

“संभव है उपशान्ता ने उस पर आकर्षण मंत्र का प्रयोग किया हो ।”

“अवश्य किया होगा तभी तो उसने ऐसा दुस्साहस किया है ।”

अजित की इन बातों को सुनकर उपशान्ता ने शपथ पूर्वक कहा, “मैंने जयसेन की ओर दृष्टिपात तक नहीं किया था । धर्म की रक्षा के लिए उसने ऐसा दुस्साहस किया है ।”

सेनापति पुष्यमित्र ने समझाते हुए कहा, “जो धर्म की रक्षा करता है उसकी रक्षा धर्म अवश्य करता है । अच्छा आप यह तो बतलाएँ कि आप किस स्थान पर रहती हैं ?”

“जैनधर्म के माननेवाले क्षेमंकर के यहाँ मैं सेविका का कार्य करती थी । उनकी बहिन क्षेमा की मृत्यु हो जाने के बाद वे उज्जैन चले गये । अब मैं धर्मदर्शी के सेवक अभय के यहाँ रहती हूँ किन्तु वह भी स्थान आज से न रहा ।”

“क्यों ?”

“धर्म महामात्र का आदेश था कि जब तक जयसेन के अभियोग का निर्णय न हो तब तक अभय मुझे अपने निरीक्षण

में रखे। अब तो अभियोग का निर्णय हो चुका है। इसीलिए मैं मुक्त कर दी गई हूँ। अतएव मेरे रहने का कोई स्थान निश्चित नहीं है।”

“अजित से आप इस सम्बन्ध में सहायता ले सकती हैं।”

अजित ने प्रसन्न होकर कहा, “चन्द्रमित्रा से मैंने जिस समय उपशान्ता की बातें कीं उसी समय से वह अधीर हो रही है। मैं वहीं रहने का भी प्रबन्ध कर दूँगा।”

अजित की इन बातों से सेनापति पुष्यमित्र समझ गया कि वह अपने कार्य में पारंगत हो गया है। इसलिए उसने सांकेतिक भाषा में कहा, “जयसेन की बातें किसी से न कहना।”

“मैं जैसा समझूँगा वैसा करूँगा।” कहता हुआ अजित उपशान्ता की ओर देखने लगा।

उपशान्ता ने अजित से कहा, “सेनापति पुष्यमित्र की सरलता से इस प्रकार का अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। शास्त्र में राजा होने के जितने लक्षण बतलाये गये हैं सभी तो इनमें वर्तमान हैं। ऐसे देव-पुरुष से उद्वेगता का बर्ताव शोभा नहीं देता।”

अजित ने प्रश्न किया, “राजा होने के भी क्या कोई लक्षण होते हैं?”

उपशान्ता—“यदि न होते तो शास्त्र उन्हें अपने में स्थान क्यों देता?”

अजित—“क्या मैं उन लक्षणों को जान सकता हूँ?”

उपशान्ता क्या उत्तर देती है इसे सुनने के लिए सेनापति

पुष्यमित्रअधीर होने लगा। उपशान्ता ने कहा, “जिसके संरक्षण में हमारी विजय हो, हमारी उन्नति हो, हमारा आरोग्य बढ़े, हमारा तेज बढ़े, हमारा ज्ञान बढ़े, हमारा आत्मिक बल बढ़े, हमारा यज्ञ सफल हो, हमारे पशु उत्तम हों, हमारी सन्तति पवित्र हो और हमारे पुरुष शूरवीर हों—वही हमारा राजा होने योग्य है। यदि परमात्मा सेनापति पुष्यमित्र को राजा बना देता तो फिर से धर्म का उद्धार होता और स्त्री-जाति के सामने से नास्तिकता का अभिशाप मिट जाता।”

पुष्यमित्र ने उपशान्ता से कहा, “राजा के लिए नास्तिक होना आवश्यक है।”

उपशान्ता— “प्रजा के हित में अपने अस्तित्व को मिटा देना ही उसकी नास्तिकता हो सकती है किन्तु प्रजा की सत्ता में उसे आस्तिकता का ही प्राधान्य देना पड़ता है ! यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसके लिए न प्रजा है और न प्रजा के लिए वह है। जैसा न्याय जयसेन के प्रति हुआ है वैसा तो असभ्य जातियों में भी न होता होगा। अस्तु ! जाने के लिए आज्ञा चाहती हूँ और कष्ट के लिए विशेष रूप से क्षमाप्राथिनी हूँ।”

पुष्यमित्र ने अभिवादन करते हुए कहा, “चन्द्रमित्रा आपकी सहायता करूँगी।”

अजित और उपशान्ता के जाते ही प्राङ्मित्रा का आगमन हुआ। उचित आसन पर बैठते हुए सेनापति पुष्यमित्र ने आने का कारण जानना चाहा। मौर्यराज बृहद्रथ से उनकी जो वार्ता हुई उसको अथ से लेकर इति तक बतलाते हुए उन्होंने त्याग-

पत्र देने का संवाद भी कह सुनाया ।

उनकी बातों को सुनकर सेनापति पुष्यमित्र ने खिन्नता प्रकट करते हुए कहा, “यदि आप अप्रसन्न न हों तो मैं कुछ निवेदन करूँ ।”

प्राङ्ग्विवाक ने उत्कंठापूर्वक कहा, “मित्रता के नाते चला आया हूँ । जाँ उचित समझते हों, उसे अवश्य कहें । विचार-विनिमय हो-जाने से लाभ ही होता है ।”

पुष्यमित्र ने कहा, “मौर्यराज के साथ आपका जो विवाद हुआ वह सराहनीय नहीं है । राजकर्मचारियों का धर्म है कि वे राजाज्ञा का पालन करते हुए राजा के प्रति नम्रता तथा सहन-शीलता का व्यवहार करें । सर्वशक्तिमान् राजा के क्रोध से ईश्वर भी नहीं बचा सकता । सच कहा जाय तो मानना पड़ेगा कि आपने उद्दण्डता के साथ राजा के सम्मुख जो बर्ताव किया है वह जयसेन के अपराध से भी कहीं बढ़कर और अक्षम्य है । यदि आप मित्र होने के नाते न आये होते तो, इसी समय मैं आपका मस्तक शरीर से भिन्न करके अपने धर्म का पालन करता । मुझे आप से ऐसे राजद्रोह की आशा नहीं थी ।”

प्राङ्ग्विवाक ने घबड़ाते हुए कहा, “तो क्या जयसेन के लिए न्याय उचित हुआ है ?”

“न्याय मेरे हाथ में नहीं है और न उससे मेरा कोई संबंध ही है ।”

“सेनापति का सेवक जिम समय बन्दी किया गया उस

समय उसकी सूचना सेनापति के पास क्यों नहीं भेजी गई ? क्या यह उचित न था ?”

“सेनापति का सेवक राज्य का सेवक है। जिन्होंने उसे बन्दी बनाया है वे भी राज्य के सेवक हैं। जिनके आदेश से वह बन्दी किया गया वे धर्म के संरक्षक हैं। उनसे अधर्म हो नहीं सकता। और जब स्यथं मौर्यराज बृहद्रथ ने किये गये न्याय का समर्थन किया है तब मुझे इस संघर्ष में निश्चिन्त रहना चाहिए। स्वामी ही जब सेवक का घातक बन रहा है तब उसके लिए कण्टक बनना धर्म-विरुद्ध है।”

पुष्यमित्र के इस कथन को सुन कर प्राङ्ग्विवाक ने खेद प्रकट करते हुए कहा, “मैं नहीं जानता था कि आप में नपुंसकता का रोग है। सेनापति पुष्यमित्र जब यह स्वीकार करता है कि स्वामी ही सेवक का घातक बन रहा है तब सेवक स्वामी का घातक बन कर प्रजा का हित साधन क्यों न करे ?—यह बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।”

“आपका स्वार्थ आपकी बुद्धि पर पटाक्षेप किये हुए है।” पुष्यमित्र ने उत्तर दिया।

“क्या मेरे स्वार्थ में जन-हित-साधन की भावना नहीं है ?” प्राङ्ग्विवाक ने प्रश्न किया। उस समय उनके भावों से ऐसा प्रकट हो रहा था मानों वे दावानल का स्वरूप धारण कर समस्त पाटलिपुत्र को अग्निमय कर देने का उपाय सोच रहे हों।

पुष्यमित्र ने समझाते हुए कहा, “यदि आप में जन-हित-

साधन की भावना है तो आप अपने कार्य को प्रारंभ कर दें। इधर उधर भटकने की आवश्यकता ही क्या है? जयसेन ने जैसा फल पाया है आप भी वैसा ही पा जायँगे। सेनापति पुण्यमित्र किसी को रोकता नहीं है। उसे अपने कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान है। यदि आप को परामर्श की आवश्यकता है तो आप व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि के समीप जायँ। वे आपकी सहायता करेंगे।”

१३

धर्ममहामात्र धर्मदर्शी अपने भवन में बैठे हुए अभय की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्यों ही अभय ने प्रवेश किया त्यों ही उन्होंने प्रश्न किया, “उपशान्ता के वक्तव्य का प्रभाव किस प्रकार पड़ा?”

अभिमान भरे शब्दों में अभय ने उत्तर दिया, “अन्नदाता के प्रताप से न्याय हम लोगों के अनुकूल किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि उपशान्ता ने अपने वक्तव्य में उन शब्दों का प्रयोग किया है जिनकी ध्वनि में अन्नदाता को अपमानित करने की भावना छिपी हुई है। किन्तु भगवान् बुद्ध की असीम दया से न्यायाधीश ने उन शब्दों पर ध्यान ही नहीं दिया। जयसेन को अपने कर्म का फल प्रत्यक्ष मिल गया।”

इतना कह कर उसने आदि से लेकर अन्त तक समस्त प्रसंग कह सुनाया। सुनकर धर्मदर्शी ने कहा, “उपशान्ता कहीं

गई ? यदि उसके लिए दण्ड का विधान न किया गया तो फिर कोई नया उपद्रव उत्पन्न हो सकता है। मैं उसे भली भाँति जानता हूँ। अतएव उस पर दृष्टि रखना आवश्यक है।”

“अन्नदाता की शक्ति और प्रताप की तुलना में उपशान्ता का कोई स्थान नहीं है। यदि मुझे यह विदित होता तो मैं उसे अपने साथ ही रखता। अभियोग का निर्णय अपने अनुकूल होते ही मैंने यह अनुमान कर लिया कि अब मुझे उपशान्ता से निश्चिन्त हो जाना चाहिए।”

“मेरे विचार से बुद्धि-वत् अथवा धन-वत् का प्रयोग करके उपशान्ता को अपने वश में करना उचित है।”

“यदि अन्नदाता ऐसा चाहते हैं तो अभय इस ओर सफल होने के लिए पूर्ण प्रयत्न करेगा।”

इतने में द्वार-देश पर आई हुई एक नवयुवती दिखाई पड़ी। सुन्दरता उसके शरीर से इस प्रकार प्रकट हो रही थी जिस प्रकार चन्द्रमा से चाँदनी प्रकट होती है। धर्मदर्शी ने अभय से कहा, “देखो वह कौन सुन्दरी आई है ? शिष्टाचार तथा समादर के साथ उसे मेरे पास ले आओ।”

तुरन्त अभय उसके पास दौड़ा गया और विनीत भाव से प्रश्न किया, “आपने क्यों कष्ट किया ?”

“मैं धर्ममहामात्र के दर्शनों के लिए आई हुई हूँ। क्या वे मुझ पर इतनी कृपा करेंगे ?”

“दर्शनाभिलाषिनी देवियों पर उनकी कृपा नित्य बनी रहती है। आप मेरे साथ आयें।”

अभय के साथ साथ वह सुन्दरी धर्ममहामात्र के सामने जाकर खड़ी हो गई। अभय ने कहा, “हमारे अन्नदाता यही हैं। बड़े सरल, शान्त तथा दयालु हैं। इनकी कृपा कामधेनु गौ के समान है।”

इस प्रकार कह कर अभय वहाँ से चला गया। उसके जाते ही सुन्दरी ने हाथ जोड़ कर कहा, “मैं आप से इस बात की प्रार्थना करती हूँ कि मैंने जो आपको कष्ट दिया है उसके लिए आप मुझे क्षमा करें।”

उचित आसन पर बैठने के लिए आदेश करते हुए धर्ममहामात्र ने उससे कहा, “आपकी सरलता, आपकी सुशीलता तथा आपकी सुन्दरता तीनों ही सराहनीय हैं। आपकी प्रसन्नता के लिए मैं किस प्रकार प्रयत्न करूँ, यह प्रश्न मेरा है। आशा है आप निःसंकोचभाव से उत्तर अवश्य देंगी।”

“मैं आपकी शरण आई हुई हूँ। यदि आप मुझ पर इतनी कृपा करेंगे तो मैं आपका बड़ा उपकार मानूँगी। मेरे पास धन की कमी नहीं है। मेरे पास जो कुछ है, सब आपका है। बस, थोड़ा सा आश्रय चाहती हूँ। यदि आप अनुचित न समझें तो इतनी उदारता अवश्य दिखायें।”

“आपका शुभ नाम क्या है?” धर्ममहामात्र ने प्रश्न किया।

“मेरा नाम सुनेत्रा है।” उस सुन्दरी ने उत्तर दिया।

“निस्सन्देह आपके नेत्र आकर्षक हैं।” धर्ममहामात्र ने सराहना की।

“प्रसन्नता हुई कि आप सौन्दर्य के पुजारी भी हैं।”

सुनेत्रा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा ।

“आप रहती कहाँ हैं ?” धर्ममहामात्र ने उसके समीप आकर प्रश्न किया ।

अपने स्थान से उठकर खड़ी हो जाने के बाद सुनेत्रा ने कहा, “मैं भद्रसेन की पुत्री हूँ ।”

आश्चर्य करते हुए धर्ममहामात्र ने कहा, “आप नगर सेठ भद्रसेन की पुत्री हैं !”

स्थिरता के साथ सुनेत्रा ने कहा, “मेरे पिता ने मुझे अपने भवन से निकाल दिया है ।”

सुनेत्रा की बातों को सुनकर धर्ममहामात्र क्षण भर के लिए मौन हो गये । कुछ विचार करने के बाद प्रश्न किया, “आप जैसी सुशील तथा सुन्दरी कन्या को भवन से निकालने का प्रयोजन क्या है ?”

“मेरे पिता जी आपको अपना शत्रु समझते हैं । उनका कहना है कि आप पक्षपाती धर्ममहामात्र हैं । जैनियों से मन-माना कर तथा चन्दा लेकर आप केवल बौद्ध-भिक्षुओं का उदर-पोषण किया करते हैं । न तो आप मानवता के पुजारी हैं और न राज्य के हितैषी हैं । उनके इस कथन का उत्तर देते हुए मैंने उनको समझाया था कि वे अपने इन साम्प्रदायिक विचारों को छोड़ दें । जैनी यदि लक्ष्मी के पुत्र हैं तो उन्हें माता का प्रसाद वितरण करने में कृपण नहीं होना चाहिए । धर्ममहामात्र यदि बौद्ध-भिक्षुओं का ही उदर-पोषण करते हैं तो भी अप्रसन्न नहीं होना चाहिए । यदि धर्ममहामात्र बौद्ध-भिक्षुओं को न सम्हाले

होते तो वे सब हम सब के द्वार पर आते और बाध्य होकर हमें उनको कुछ-न-कुछ देना ही पड़ता । अब प्रश्न रहा मानवता के पुजारी होने का और राज्य के हित का । उत्तर में बस इतना ही समझ लेना चाहिए कि जिस मानवता में आकर्षण नहीं है उसका पुजारी कोई नहीं होता और जिस मानवता में आकर्षण है उसके पुजारी अनेक हैं । राज्य के हित का उत्तरदायित्व राजा पर है । राजा की आलोचना नहीं करनी चाहिए । जो राजा की आलोचना करता है वह राजद्रोह अवश्य करता है । खेद है, मेरी इन सब बातों का कुछ भी प्रभाव पिता जी पर न पड़ा । उन्होंने क्रोध करते हुए मुझे भवन से निकाल दिया । जब मैं चलने लगी तब उन्होंने इतना अवश्य कहा, “तू जिसका पक्ष ले रही है उसीके पास जा और देख कि वह कितना नीच और पातकी है । वह तुझसे बात तक भी न करेगा ।” ऐसा मेरा दुःखद वृत्तान्त है । अब आप मेरे लिए जैसा उचित समझें वैसा प्रबन्ध करें । इसमें सन्देह नहीं कि मेरे पिता का कथन मिथ्या प्रमाणित हुआ । मैं तो आपके दर्शनों से ही अधिक प्रसन्न हुई । आपका मधुर सम्भाषण, आपकी सौन्दर्य-उपासना तथा आपका उदार स्वभाव प्रियकर अवश्य है ।”

सुनेत्रा की इन सब बातों को सुनकर धर्म-महामात्र ने साधारण ढंग से कहा, “राजनीति का विषय जटिल होता ही है । यदि प्रजा की प्रसन्नता पर विशेष ध्यान दिया जाता है तो राजा का दृष्टिकोण सशक्त हो जाता है । यदि राजा की प्रसन्नता के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होते हैं तो प्रजा निन्दा

करने लगती है। ऐसे ही समय में धर्म का ज्ञान ही कर्तव्य की नौका को पार लगाता है।”

“इस समय आपने जो कुछ कहा है उसका एक एक अक्षर अमूल्य है। मैं तो पहिले ही निश्चय कर चुकी हूँ कि इस राज्य में आपसे बढ़ कर दूसरा कोई विद्वान् नहीं है। आप साक्षात् विद्या के समुद्र हैं। जिस प्रकार समुद्र अथाह और अपार है उसी प्रकार आप भी हैं। यदि मेरे पिता के विचार मेरे समान हो जाते तो कितना अच्छा होता। आपका सम्मान करने का अर्थ है अपने को सौभाग्य के ऊँचे शिखर पर ले जाना।”

इतना कह कर सुनेत्रा थोड़ा-सा धर्ममहामात्र की ओर बढ़ कर फिर कहने लगी, “अब आप ही विचार करें कि मैं कहाँ तक सत्य के मार्ग पर अटल हूँ।”

सुनेत्रा के कंधे पर हाथ रख कर धर्ममहामात्र ने कहा, “निस्सन्देह आप ध्रुव तारा के समान अपने सत्यमार्ग पर अटल हैं। श्रद्धा तथा भक्ति के साथ यदि मनुष्य अपने सत्यमार्ग पर अटल रहे तो उसे सिद्धि तुरंत प्राप्त होती है। सुनेत्रे ! प्रत्यक्ष प्रमाण है कि मैं स्वतः आपकी ओर खिंचता चला आ रहा हूँ। जिस प्रकार भक्त की भक्ति से भगवान् खिंचते हैं अथवा चुम्बक के आकर्षण से लौह खिंचता है उसी प्रकार मैं भी खिंचता चला आ रहा हूँ। मेरा धर्मज्ञान, मेरा धर्मदर्शन, मेरी धर्ममहामात्रता सभी मुझ से भिन्न हैं। आपके सुनेत्र मेरे हृदय तक प्रवेश कर गये हैं।”

सुनेत्रा ने उदास होकर धर्ममहामात्र से कहा, “कोई मेरे

इन नेत्रों को तीर कहता है, कोई भाला कहता है, कोई बछ्छी कहता है, कोई काँटा कहता है और आज आप इन्हें अपनी व्याकुलता का कारण बतला रहें हैं। ऐसी दशा में इन आन्दोलनकारी नेत्रों को मैं क्या दण्ड दूँ यह अब आपही बतलाएँ।”

धर्ममहामात्र ने आनन्दप्रकट करते हुए कहा, “मैं स्वयं नहीं समझ सका हूँ कि आपके इन नेत्रों की उपमा किससे दूँ— सूर्य से या चन्द्र से? जब तक ये मेरे सामने हैं, ऐसा ज्ञात होता है मानों मुझ पर अमृत की वर्षा हो रही है। जब इनके दूर जाने की कल्पना करता हूँ तब भय होता है कि कहीं इनका वियोग मुझे जला न दे। मेरे नेत्रों को यदि समुद्र मान लिया जाय तो भी इनकी क्रिया विपरीत ही हांगी। आपके मुख रूपी चन्द्रमा को देखते ही इनका जल सुख जाता है और बिना देखे इनका जल उमड़ चलता है। अब तो मेरी यही अभिलाषा है कि जब तक आपके यौवन-नगर में कामदेव का राज्य है तब तक मेरा मन शृंगार रूपी धर्म की महामात्रता करता रहे। आपका यह यौवन-समुद्र अथाह है। इसमें आपके उठते हुए उरोज पत्थरों के समान हैं। मेरे नेत्र रूपी जल-पोत बारम्बार इन्हीं से टकरा रहे हैं। परिणाम स्पष्ट है कि मन रूपी यात्री का डूब जाना अनिवार्य है।”

सुनेत्रा ने धर्ममहामात्र से निवेदन किया, “अब आप अधिक प्रशंसा न करें। आपको बनाना विशेष रूप से आता है यह सिद्ध हो गया। आप तो चाहते हैं उपशान्ता को और

प्रशंसा कर रहे हैं मुझ सुनेत्रा की । आप न तो पति बनने के योग्य हैं, न उपपति बनाये जा सकते हैं । वैशेषिक के लिए आपकी वर्तमान पदवी स्वीकृति नहीं दे सकती । तीनों नायकों में से आप एक भी नहीं हो सकते ।”

धर्ममहामात्र ने आश्चर्य के साथ प्रश्न किया—“पति क्यों नहीं हो सकता ?”

सुनेत्रा—“आप यौवन की अन्तिम सीमा पर हैं और मैंने अभी प्रवेश ही किया है इसलिए ?”

धर्ममहामात्र—“और उपपति होने में रुकावट कहाँ है ?”

सुनेत्रा—“न मेरे अभी पति है और न आपके पत्नी है । उपपति किस प्रकार हो सकते हैं ?”

धर्ममहामात्र—“वैशेषिक बनने में हानि क्या है ?”

सुनेत्रा—“मौर्यराज का धर्ममहामात्र तृष्णा के प्रवाह में पड़ कर व्यभिचारी बने तो यह राज्य की मर्यादा के विरुद्ध है । नगर सेठ भद्रसेन की पुत्री सुनेत्रा धर्ममहामात्र को कुपथ पर चलाने के लिए नहीं आई है । सुपथ पर चलना और दूसरों को चलाना यही मेरे जीवन का ध्येय है ।”

धर्ममहामात्र—“आप मेरे इस भवन में रहना उचित समझती हैं या नहीं ?”

सुनेत्रा—“मैं तो इस भवन में रहने के अभिप्राय से स्वयं आई हुई हूँ ?”

धर्ममहामात्र—“क्या आपको अब भी मेरे चरित्रहीनत्व पर सन्देह नहीं है ?”

सुनेत्रा — “कदापि नहीं । आप तो सौन्दर्य के उपासक हैं । सौन्दर्य की रक्षा करना आपका स्वाभाविक धर्म है । यदि आप का चरित्रभ्रष्ट होता तो मौर्यराज बृहद्रथ आपको इस पद से च्युत कर देते । जब तक आप इस पद पर हैं तब तक आप चरित्रहीन नहीं हो सकते ।”

धर्ममहामात्र — “आपको यह कैसे विदित हुआ कि मैं उपशान्ता को चाहता हूँ ।”

सुनेत्रा — “न्यायालय में उसने जो अपना वक्तव्य दिया था उससे ।”

धर्ममहामात्र — “उसके वक्तव्य में सत्यता का कितना अंश हो सकता है ?”

सुनेत्रा — “आदि से अन्त तक असत्य वक्तव्य था । कोई स्त्री ऐसा नहीं कह सकती । मान लीजिए कि आप मुझ पर आसक्त हो गये और अपने को न रोक सके तो मेरा यह धर्म नहीं है कि प्रत्येक स्थान पर इसका प्रचार करती रहूँ । शरीर से शरीर का सम्बन्ध हो जाना पाप नहीं है ।”

धर्ममहामात्र ने प्रसन्न होकर सुनेत्रा से कहा, ‘आप अब चल कर विश्राम करें ।’

— — —

जयसेन के प्राण-दण्ड का समाचार जैसे ही सुनन्दा ने सुना वैसे ही वह सुमना के पास दौड़ी गई । जाकर देखती है कि

वह वैठी हुई आँसू बहा रही है। शांत भाव से जाकर वह भी उसके समीप बैठ गई। अपने आँसुओं को पोंछ कर सुमना ने सुनन्दा से कहा, “बहिन ! अब क्या होगा ?”

सुनन्दा ने उसे समझाते हुए कहा, “मगध राज्य के नाश का उपाय करना होगा। जनता की सोई हुई भावनाओं में नवीन जागृति को उत्पन्न करके उसे उचित मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करना होगा। निरपराध जयसेन की रक्षा के लिए उन सभी उपायों को रचनात्मक रूप दिया जायगा जिनकी कि इस संकट के समय अधिक आवश्यकता है। मानवी शक्ति का उत्थान और दानवी शक्ति का पतन होना अवश्यंभावी हैं। तुम खिन्नता को दूर करो और प्रगतिशीलता का सहारा लो।”

“सुनेत्रा की मैं प्रतीक्षा कर रही हूँ। यदि वह आ जाती तो उससे भी परामर्श कर लेती।”

‘सुनेत्रा अपने कार्य में तत्पर हो चुकी है। उसके लिए जो कार्य निश्चित किया गया था उसे पूरा करने के लिए वह अपने मार्ग पर अग्रसर हो चुकी है। उसके लिए प्रतीक्षा करना व्यर्थ है।’

सुनन्दा के इस उत्तर को सुनकर सुमना को धैर्य हुआ। उसने अपने में साहस का संचार किया और अपने पितासे जाकर आज्ञा लेने की इच्छा की। सुनन्दा ने सुमना से प्रश्न किया “तुम अपने पिता से जाकर क्या कहोगी ? यदि उन्होंने स्वीकृति न दी तो क्या करोगी ?”

सुमना ने सुनन्दा से कहा, “तुम भी मेरे साथ चलो । जब मैं पिता जी के पास जाऊँ तब तुम परोक्ष में रहना और सब बातें सुनना । यदि मैं विचलित होने लगूँ तो तुम तुरंत आ जाना और अपने बुद्धि-बल से मेरी सहायता करना । सफलता यहीं से होनी चाहिए ।”

इस प्रकार परस्पर निश्चित करके सुमना और सुनन्दा दोनों वहाँ से उठ पड़ीं । दो-तीन प्रकोष्ठों को पार कर सुनन्दा रुक गई और सुमना आगे बढ़ी । उसे आती देखकर सर्वमित्र ने अपने सेवक उदय से कहा, “सुमना के लिए आज जो मैं मणियों की माला लाया हूँ उसे ले आओ ।”

प्रसन्नता प्रकट करती हुई सुमना बोली, “पिता जी, आज तो समस्त पाटलिपुत्र में आपके न्याय की प्रशंसा हो रही है । मेरी जितनी सहेलियाँ हैं सभी कह रही हैं कि यदि आप जैसे न्यायाधीश कण्टकशोधन न्यायालय में न हों तो राज्य का कार्य चलना असंभव हो जाय ।”

सर्वमित्र ने अभिमान भरे शब्दों में कहा, “निस्सन्देह आज मैं भीषण परिस्थिति में पड़ गया था । सेनापति पुष्यमित्र का विश्वासपात्र सेवक जयसेन है । राजाज्ञा का उल्लंघन करने का अभियोग प्रारंभ होता है धर्ममहामात्र धर्मदर्शी के भवन से । बन्दी की आज्ञा देते हैं स्वयं धर्ममहामात्र । अभय का वक्तव्य संदिग्ध होने पर भी इतना स्पष्ट अवश्य था कि जयसेन ने उसे झकझोरा था । उपशान्ता का वक्तव्य धर्ममहामात्र धर्मदर्शी की मर्यादा के विरुद्ध था । यदि मैं उसे सत्य स्वीकार कर लेता तो

संभव था कि मेरी वही दशा होती जो प्राड्विवाक की हो चुकी है। यदि उस समय मैं अपने निर्णय को प्राड्विवाक की स्वीकृति, समर्थन तथा अनुमोदन के लिए न भेजता तो सेनापति पुष्यमित्र मेरे मस्तिष्क को चाट जाता। अब तो स्वयं मौर्य-राज बृहद्रथ मेरे निर्णय पर अपना आदेश और भी भयानक निकाल चुके हैं इसलिए मैं निश्चिन्त हूँ और इसी प्रसन्नता के कारण तुम्हारे लिए मणियों की माला लेता आया हूँ। आशा है, तुम उसे अवश्य पसन्द करोगी। बड़ी सुन्दर माला है।”

इतने में उदय उस माला को लेकर आ गया। सुमना ने प्रसन्नता प्रकट करके उसे ले लिया। सर्वमित्र ने उससे कहा, “इसे तुम अपने गले में पहिन लो। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी।”

सुमना ने वैसा ही किया और चुपचाप सामने पड़े हुए आसन पर बैठ गई। सर्वमित्र ने उससे प्रश्न किया, “लक्ष्मणों से ज्ञात हो रहा है कि तुम मुझ से कुछ कहना चाहती हो।”

बड़े ही संकोच के साथ सुमना ने उत्तर दिया, “जी हाँ, यदि आप असन्तुष्ट न हों तो।”

सर्वमित्र—“तुम ऐसी कोई बात कहोगी ही नहीं जो मेरे असन्तोष का कारण बन सके। ऐसी दशा में इस प्रकार की शिष्टाचार-पूर्ण भूमिका का उपयोग न करना ही आनन्द-कारक होगा।”

सुमना—“मेरा विचार पाटलिपुत्र से बाहर जाने का हो रहा है।”

सर्वमित्र—“बाहर जाने का उद्देश्य ?”

सुमना—“संभव है कि प्राङ्बिवाक राज्य के भीतरी भाग में जनता को आन्दोलन करने के लिए प्रोत्साहित करे और जनता उत्तेजित होकर कहीं आप पर आक्रमण करे, इसलिए जनता को अपने उपदेशों से शान्त रखना मैं अपना कर्तव्य समझ रही हूँ फिर आपकी जैसी आज्ञा हो ।”

सर्वमित्र—“प्राङ्बिवाक तो शीघ्र ही बन्दी कर लिया जायगा । राजद्रोही के लिए मौर्यशासन अधिक कठोर है । तुम उसके भय से निश्चिन्त रहो ।”

सुमना --“प्राङ्बिवाक यदि बन्दी हो गया तो उसके सहायक ऐसा कर सकते हैं । राजभक्त राजकर्मचारी की पुत्री होने के कारण ऐसे समय में राज्य रक्षा के लिए प्रयत्नशील न होना मैं अपने लिए कलंक समझती हूँ । राज्य के जितने काँटे होंगे सभी का अनुसंधान करना और उन्हें दण्ड दिलाना हम लोगों का कर्तव्य होना चाहिए । कर्तव्य-पालन के मार्ग पर बढ़ने वाली संतान को रोकना भी एक प्रकार का राजद्रोह हो सकता है । आप तो न्यायाधीश हैं । आप अपने को राजद्रोही कदापि नहीं बनायेंगे-मुझे आपसे ऐसी ही आशा है । यदि मैं आपकी पुत्री हूँ तो मैं जन्म-संस्कार से ही न्याय के रक्त से निर्मित हूँ । न्याय मेरा संस्कार है, न्याय मेरा भाग्य है, न्याय मेरा जन्म है, न्याय मेरा अधिकार है और न्याय की रक्षा में ही मेरा जीवन है ।”

सर्वमित्र—“तुम्हारी इन बातों से मुझे गर्व हो रहा है कि तुम मेरी आदर्श पुत्री हो । मगधराज्य का कल्याण तुम से

अवश्य होगा। मैं तुम्हारी इच्छाओं को दवाना नहीं चाहता।”

सुमना ने प्रसन्न होकर कहा, “मेरे साथ यदि आप भी चलें तो उत्तम होगा।”

सर्वमित्र ने अस्वीकार करते हुए कहा, “यह प्रस्ताव स्वीकार कर सकना कठिन है।”

“क्यों?”

“कण्टकशोधन में कल दूसरे अभियोग का प्रवेश होने वाला है।”

“वह किस प्रकार का है?”

“सुप्रतीत नाम का कोई व्यक्ति था। गुप्तचरों ने अनुसंधान करके यहाँ तक निश्चय कर लिया है कि उससे और अभय से मित्रता थी। ये दोनों ही जिस स्त्री से प्रेम करते थे उसका नाम सुदर्शना है। एक बौद्ध-भिक्षु से सुदर्शना का स्थान विदित हुआ है। सुदर्शना के सम्बन्ध में ऐसा प्रसिद्ध है कि वह सत्य और अहिंसा की सच्ची उपासिका है। उसी के वक्तव्य पर सुप्रतीत के घातक का निर्णय है। इसलिए मैं तुम्हारे साथ जाने में असमर्थ हूँ।”

“यहाँ फिर अभय का नाम आता है और वह धर्ममहामात्र का विशेष कृपापात्र है।”

“जैसा कि गुप्तचरों का मन्तव्य है यदि वह प्रमाणित हो गया तो अभय को भी प्राण-दंड होगा। क्यों कि जिस समय अभय को ज्ञात हुआ कि सुदर्शना चंडाल-कन्या है और सुप्रतीत ने उससे उसका परिचय नहीं प्रकट किया; उस समय

अभय ने सुदर्शना से कहा था, 'इस समय यदि सुप्रतीत मिल जाता तो मैं अपने इन्हीं हाथों से उसका गला घोट देता ।' यदि सुदर्शना ने इसे स्वीकार कर लिया तो फिर धर्ममहामात्र अभय को नहीं बचा सकेंगे ।"

"तो क्या कल सुदर्शना न्यायालय में आयेगी ?"

"अवश्य ।"

"इतने में उदय ने आकर कहा, "धर्ममहामात्र के यहाँ से कोई आया है । यदि आज्ञा हो तो मैं उसे धर्मावतार के सम्मुख उपस्थित करूँ ।"

सुमना ने कहा, "उसे यहाँ तक आने दो । मैं उसे देखना चाहती हूँ ।"

उदय—“आप उसे देख कर क्या करेंगी ?”

सुमना—“दुष्ट स्वभाव का मनुष्य किस आकार का होता है इसे देखने के लिए ।”

सर्वमित्र ने उदय से कहा, “उसे यहाँ तक प्रसन्नता-पूर्वक आने दो ।”

उदय गया और अपने साथ अभय को ले आया । धरती तक मस्तक झुकाकर अभय ने नम्रतापूर्वक कहा, “हमारे अन्न-दाता ने धर्मावतार को रात्रि के नृत्य में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया है और विशेष रूप से प्रार्थना की है कि आप अवश्य कृपा करें ।”

सर्वमित्र ने अभय से कहा, “आज के लिए मैं तुम्हारे अन्नदाता से क्षमा चाहता हूँ । कह देना कि न्यायालय का कार्य

जितना अपूर्ण रह गया है उसे पूर्ण करने में तत्पर हूँ। समय का अभाव मुझे रोक रहा है। संभव हुआ तो कल प्रातःकाल दर्शनों के लिए उपस्थित हो जाऊँगा।”

“जैसी धर्मावतार की इच्छा हो।” कहता हुआ अभय धीरे धीरे वहाँ से चला गया।

उसके जाने के बाद सुमना ने सर्वमित्र से कहा, “धर्मदर्शी के यहाँ नित्य नृत्य होता है। समस्त अमात्यवर्ग और आप उसमें सम्मिलित भी होते हैं। जो धन व्यय होता है वह आता कहाँ से है? क्या धर्मदर्शी की मासिक आय आवश्यकता से अधिक है?”

उत्तर देते हुए सर्वमित्र ने सुमना से कहा, “हमें इन सब बातों से कोई प्रयोजन नहीं है। तुम यदि पाटलिपुत्र से कहीं बाहर जाना चाहती हो तो जा सकती हो। तुम्हारे साथ उदय जायगा।”

“यहाँ का काम कौन सँभालेगा?”

“किसी प्रकार सम्हल जायगा।”

“उदय को यहीं रहने दीजिए। आप बस उदय से इतना कह दीजिए कि वह मेरे साथ जाने के लिए किसी विश्वासपात्र सेवक को नियुक्त कर दे।”

“तुम्हारा कहना यथार्थ है।” इतना कह कर सर्वमित्र ने उदय से सेवक के लिए कह दिया।

“कल प्रातःकाल जाने का विचार है।” इतना उदय से कहती हुई सुमना वहाँ से उठ पड़ी।

सुनन्दा के पास आकर सुमना ने कहा, “चलो यहाँ से और करो तैयारी चलने की ।”

शीघ्रता के साथ चलकर वे दोनों उसी स्थान पर आई जिस स्थान पर पहिले बैठी हुई थीं ।

वहाँ पर आते ही सुनन्दा ने सुमना से कहा, “तुम तो सफल हो गई हो ।”

सुमना ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा, “यदि तुम न आती तो मैं रोती ही रहती ।”

सुनन्दा — “तो तुम किस ओर जाओगी ?”

सुमना—जिस ओर जाने के लिए तुम कहोगी ।”

सुनन्दा—“पाटलिपुत्र के बाहर पूर्व और उत्तर के भाग को तुम ले लो ।”

सुमना—“और तुम किस ओर कार्य करोगी ?”

सुनन्दा—“पाटलिपुत्र के बाहर पश्चिम और दक्षिण के भाग में ।”

सुमना—“चन्द्रमित्रा अपना कार्य पाटलिपुत्र में अकेली कर लेगी ऐसी आशा है ।”

चलते चलते उपशान्ता और अजित दोनों ही एक रमणीय उद्यान के प्रवेश द्वार पर उपस्थित हुए । उपशान्ता ने अजित से प्रश्न किया, “तुम इस स्थान पर मुझे किस लिए लाये हो ?”

अजित ने साधारण ढङ्ग से उत्तर देते हुए कहा, “मैं तुम्हें चन्द्रमित्रा के यहाँ पहुँचाने के लिए लाया हूँ। क्या तुम चन्द्रमित्रा के यहाँ जाने के लिए तैयार नहीं हो ?”

“चन्द्रमित्रा के यहाँ पहुँचाने से और इस रमणीय उद्यान के प्रवेश द्वार से क्या संबंध है ?”

“चन्द्रमित्रा के यहाँ पहुँचने के लिए यह प्रवेश द्वार अनिवार्य है।”

“किन्तु यहाँ का वातावरण तो कुछ और ही है। अजित ! मैं क्षमा चाहती हूँ और प्रार्थना करती हूँ कि तुम मुझे कहीं अन्यत्र ले चलो। चन्द्रमित्रा का स्थान मेरे लिए उपयुक्त नहीं है।”

“क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ ?”

“यहाँ की श्यामल लतिकाएँ, यहाँ के हरे-भरे वृक्ष, यहाँ की विकसित कलियाँ, कलियों पर मँडरानेवाले भ्रमर जिन्हें मैं प्रवेश द्वार के बाहर से देख रही हूँ वे मेरे चित्त में काँटे के समान चुभने लगे हैं। भीतर से पिक, चातक और मयूरों की ध्वनियाँ जो आ रही हैं वे मेरे चित्त में दूक उत्पन्न कर रही हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ का मलय पवन शीतल-मन्द-सुगंध तीनों प्रकार का है किन्तु खेद है कि यह मेरे चित्त को जलाने का ही काम कर रहा है। मेरा विराग मेरा त्याग करने वाला है और संसार का क्षणिक भोग-जनित सुख मेरे स्वागत के लिए तैयार हो रहा है। मेरा अभिमान नहीं ठहरने पा रहा है। इसलिए मैं यहाँ से दूर भागना चाहती हूँ।”

अजित ने उपशान्ता को समझाने का भरसक प्रयत्न किया किन्तु उसकी समझ में कुछ भी न आया। अन्त में उसने इतना ही कहा, “इस सङ्कट के समय में दूसरा और कोई सुरक्षित स्थान नहीं है।”

उपशान्ता ने कहा, “मैं पाटलिपुत्र को छोड़ कर चली जाऊँगी।”

अजित ने कहा, “बन्दिनी बन कर फिर आओगी और प्राणों से भी हाथ धोओगी।”

उपशान्ता ने कहा, “मुझे अपने प्राणों का मोह विचलित नहीं कर सकता। इस समय प्रश्न है—जयसेन की रक्षा का। ऐसी दशा में मैं तुमसे विवाद करना उचित नहीं समझती। तुम जैसा कहोगे मैं वैसा ही करूँगी। किन्तु एक बात पर ध्यान रखना होगा।”

अजित ने पूछा, “किस बात पर कैसा ध्यान रखना होगा?”

उपशान्ता ने समझाते हुए कहा, “मेरे अनासक्त विचारों को आघात न पहुँचे।”

अजित ने कहा, “यदि वातावरण का प्रभाव पड़ जाय तो उसका उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं है। चन्द्रमित्रा के कारण तुम्हारे अनासक्त विचारों को आघात न पहुँचेगा इसके लिए मैं वचन-बद्ध होता हूँ।”

उपशान्ता ने प्रश्न किया, “ये चन्द्रमित्रा हैं कौन? इनका इतना मान क्यों है?”

अजित ने कहा, “तुम्हारी भाँति साधारण स्त्री हैं। हम लोगों ने ही इनका इतना मान बढ़ाया है। जैसा मैं कहता हूँ वैसा ही ये करती हैं इसीलिए इनका इतना मान है।”

उपशान्ता ने कहा, “इससे यह प्रमाणित हुआ कि तुम मान बढ़ाने का व्यापार करते हो।”

अजित ने रुकते हुए कहा, “अर्थ का अनर्थ न करो। मेरा अभिप्राय यह है कि हम लोग चन्द्रमित्रा के साथी तथा सहायक हैं और चन्द्रमित्रा एक बड़े कार्य-साधन के मार्ग पर हम लोगों का साथ दे रही हैं। सेनापति पुष्यमित्र की विशेष कृपा-पात्री तो नहीं हैं किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वह उनकी दृष्टि में संदिग्ध-चरित्रा हों। तुमसे बढ़ कर वह सच्चरित्रा हैं। भेद बस इतना है कि तुम सच्चरित्रता का ढोंग रचती हो और वे जन-हित-साधन के मार्ग पर सच्चरित्रता का ढोंग नहीं रचतीं। यही उनकी एक बड़ी विचित्रता है। जब उनसे मिलोगी तब तुम्हारा चित्त स्वतः प्रसन्नता को प्राप्त कर लेगा।”

“अच्छी बात है।” इतना कह कर उपशान्ता ने उद्यान के प्रवेश द्वार को पार किया। मार्ग के दोनों ओर घनी घनी लताएँ वृक्षों से लिपट कर सौन्दर्य की वृद्धि कर रही थीं। छोटे-छोटे जलाशयों में कमल खिले हुए थे। भिन्न-भिन्न वर्ण के पक्षी कलरव कर रहे थे। छोटे-छोटे रम्य लता-मंडप आगंतुक की दृष्टि को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए उतावले से हाँ रहे थे। इन सब रमणीय दृश्यों को देखते हुए दोनों एक विशाल पुष्करणी के तट पर उपस्थित हुए। सभी ओर से वह भी मनो-

रम थी। उसी से मिला हुआ एक विशाल भवन था।

अजित ने उसे दिखाते हुए उपशान्ता से कहा, “चन्द्रमित्रा का निवास-स्थान इसी विशाल भवन में है। जिस प्रकार पुष्करणी में कमल-पत्र शोभा देते हैं उसी प्रकार इस भोग की सामग्रियों से पूर्ण विशाल-भवन में चन्द्रमित्रा शोभा देती हैं। तामसी आसन पर राजसी शृंगार से युक्त सात्विकी भावना की मूर्ति चन्द्रमित्रा हैं। ज्ञान-वैराग्य का योग यहीं चन्द्रमित्रा की सेवा में तत्पर है। तुम प्रथम उन्हें नहीं पहिचान सकोगी इसलिए इस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया है। राजनीति, धर्मनीति, समाज-नीति तथा अर्थनीति का संचालन इस समय यहीं से हो रहा है। चन्द्रमित्रा वह ध्रुव तारा है जिसकी परिक्रमा पाटलिपुत्र के सभी विचारशील पुरुष कर रहे हैं।”

इस प्रसंग को समाप्त करके अजित ने उपशान्ता से कहा, “चलो, चन्द्रमित्रा का वर्णन हो चुका।”

पुष्करणी के दूसरे तट पर पहुँच कर अजित ने सम्बोधन किया, “द्वार पर अतिथि आये हुए हैं।”

“आती हूँ।” कहती हुई चन्द्रमित्रा आ पहुँची और उपशान्ता को प्रणाम करते हुए कहा, “देवि ! आप साक्षात् पतिता-पावनी हैं। मुझ जैसी पतिताओं का उद्धार करने के लिए ही आपने जन्म ग्रहण किया है। आज मेरा परम सौभाग्य है। यदि ऐसा न होता तो आप यहाँ न आतीं। अजित आपके साथ है इसलिए इसमें सन्देह नहीं कि आप ही देवी उपशान्ता हैं। यहाँ आपके निमित्त उपयुक्त स्वागत के लिए मेरे पास कुछ भी

नहीं है। आप कृपामयी हैं इसलिए प्रार्थना है कि आप भवन के भीतर प्रवेश करने की कृपा करें।”

“भावों की पुष्टता, व्यंजना की गंभीरता तथा भाषा की सरसता सराहनीय है।” कहती हुई उपशान्ता ने अजित से कहा, “तुमने देवी चन्द्रमित्रा की जैसी वर्णना की थी उससे भी ये कहीं अधिक प्रत्यक्ष हैं।”

नम्रता के साथ चन्द्रमित्रा ने निवेदन किया, “आप अधिक मुझे लज्जिता न करें।”

उपशान्ता ने कहा, “लज्जिता तो मुझे होना चाहिए और इसलिए कि मैंने अजित की बातों पर विश्वास नहीं किया था। मुझे इस बात का अभिमान था कि मेरा ज्ञान आपसे बढ़ कर है।”

“मैं आपके इस अभिमान की रक्षा करूँगी। आपके अनुभवों से यदि मैं लाभ उठा सकी तो मगध के मौर्य-शासन से पीड़ित जनता की रक्षा सरलता से की जा सकेगी। निरपराध जयसेन के प्रति जो अन्याय किया गया है उसके लिए मगध-राज्य की प्रत्येक स्त्री ज्वालामुखी का रूप धरण करेगी।

“अहिंसा का उपदेश, निर्वाण की भावना, तृष्णा का भय सभी दूर किये जायेंगे। जो राज्य स्त्री-जाति के लिए नहीं है, जिस राज्य में लम्पटों का ही प्रभुत्व है, जिस राज्य में सत्य के नाम पर मिथ्या का आवाहन होता है, जिस राज्य में अहिंसा के स्थान पर हिंसा की अग्नि प्रज्वलित की जाती है, जिस राज्य में मानवता की हत्या करने वाले आनन्द से जीविका उपार्जन

करते हैं, उस मौर्य-राज्य का यदि अन्त न किया गया तो मेरा और आपका जीवन पापी जीवन है।

“इस पापी जीवन का अन्त इसी प्रायश्चित्त में होगा। यदि चाणक्य को ज्ञात होता कि चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्तराधिकारी ही इस प्रकार न्याय की हत्या करेंगे तो वह कदापि उसका साथ न देता। यदि उसे ज्ञात होता कि उसके कौटिल्य अर्थशास्त्र का उपयोग ये मौर्यवंशवाले नहीं कर सकेंगे तो वह इतना परिश्रम न करता। जिस अन्याय के कारण नन्द-वंश का नाश किया गया था, उसी अन्याय के कारण इस मौर्य-वंश का भी नाश किया जायगा। देवि उपशान्त ! बस एक बार आप स्त्रियोचित अभिमान को अपना ले।”

चन्द्रमित्रा के इस आज्ञास्वी भाषण का प्रभाव उपशान्ता पर विशेष रूप से पड़ा। वह अपने मन में विचार करने लगी, “स्त्रियोचित अभिमान से चन्द्रमित्रा का अभिप्राय क्या है ? क्या मैं स्त्रियोचित अभिमान को भूली हुई हूँ ? क्या मैंने जय-सेन की रक्षा के लिए स्त्रियोचित अभिमान का प्रयोग नहीं किया है ? चन्द्रमित्रा के दृष्टिकोण से क्या मेरा स्त्रियोचित अभिमान खोया हुआ है ? समझ में नहीं आ रहा है कि स्त्रियोचित अभिमान को अपनाने के लिए मुझे किस प्रकार प्रयत्न करना चाहिए ? चन्द्रमित्रा के भावों का वास्तविक रहस्य क्या है ?”

उपशान्ता को विचार करती हुई देखकर अजित ने कहा, “इस प्रकार विचार करने का जो परिणाम हो सकता है उसे मैं अच्छे प्रकार जानता हूँ। उचित तो यही होगा कि भीतर प्रवेश

करो और अपने मानसिक विकारों को दूर कर भविष्य के कार्यक्रम को निश्चित करो।”

अजित के इस प्रस्ताव का समर्थन करती हुई चन्द्रमित्रा ने कहा, “देवि! आप चलकर विश्राम करें। जीवन की क्षण भंगुरता में ही राष्ट्रों का उत्थान तथा पतन होता है। पुष्करणी में असंख्य पद्मों का हास तथा विकास हुआ किन्तु इस पुष्करणी की शोभा में कुछ भी परिवर्तन न हुआ।

“उपवन के वृक्षों के जीवन में ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त इन सब ऋतुओं का आवाहन तथा विसर्जन हुआ किन्तु उपवन का अस्तित्व न मिट सका। सरिताओं के प्रवाह में तरङ्गों के बनने और मिटने की अकथ कथा वर्तमान हैं। संसार के इतिहास में सृजन और संहार यही तो मुख्य दो खंड हैं। जो सृजन कर सकता है। उसी से संहार का कार्य भी प्रकृति करा लेती है। जिसे संहार करना है वह सृजन के रहस्य को अवश्य समझता है।

“जयसेन के संहार के लिए प्राण-दंड का विधायक भविष्य के लिए राजद्रोहियों का सृजन करने के लिए मूल कारण हो चुका है। चाहे वह दूरदर्शी हो अथवा अदूरदर्शी; परिणाम में कुछ भी अन्तर नहीं है। इसी प्रकार धर्ममहामात्र धर्मदर्शी की रक्षा के लिए जिस विधान का सृजन किया गया है उसका भी परिणाम मौर्यराज्य का संहार है। अब इसे कोई नहीं सम्हाल सकेगा।

“क्षमा कीजिएगा, यदि आप में स्त्रियोचित अभिमान होता

तो आपको सिंहनी के समान धर्मदर्शी पर टूट पड़ना चाहिए था। कौन ऐसा मोह था जिसके कारण आप जयसेन का साथ न दे सकीं। यदि आप जीवन की रक्षा करती हुई जयसेन का हित करना चाहती हैं तो उसका उपाय बस यही है कि आप इस भेष का त्याग करें और भेद-नीति का सहारा लेकर भविष्य के कार्यक्रम को निश्चित करें। यह सृष्टि गुणमयी है।

“प्रकृति भी अपने तीनों गुणों से जीव को बाँधती है। गुण का साधारण अर्थ है डोरी। सतो गुण ज्ञान प्रधान है, रजो गुण स्वार्थ प्रधान है, तमो गुण आलस्य प्रधान है। ज्ञानी को ज्ञान से बाँधना होगा, जो स्वार्थी है उसे स्वार्थ की भावना से बाँधना होगा और जो आलस्य प्रधान हैं उन्हें उन सब जालों से बाँधना होगा जिन्हें प्रकृति ने स्त्रियों को स्वभाव से ही दे रखा है।”

अजित ने उपशान्ता से प्रश्न किया, “कितना सुन्दर कार्यक्रम है ?”

उपशान्ता ने उत्तर दिया, “परन्तु कार्यरूप में परिणत कर सकना कठिन है।”

अजित ने कहा, “जो मार्ग सौन्दर्य के विकास से प्रारंभ होकर माधुर्य के उपवन में समाप्त होता है वही मार्ग इस कार्यक्रम को कार्यरूप में परिणत करायेंगा।”

चन्द्रमित्रा ने उपशान्ता को समझाते हुए कहा, “आपके कार्यक्रम को कार्यरूप में परिणत कराने के लिए मैं गुप्त उपायों को समझा दूँगी। आप इस समय चलकर विश्राम करें।”

अमात्य ब्रह्मदेव की पुत्री का नाम सुनन्दा था। सुमना के यहाँ से आकर सुनन्दा अपने प्रस्थान की तैयारी करने लगी। ब्रह्मदेव ने उसके पास जाकर पूछा, “पुत्री ! यह सब तैयारी किसलिए हो रही है ? बिना मुझे सूचित किये तुम तैयारी कर रही हो, इससे मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।”

सुनन्दा ने ब्रह्मदेव से कहा, “पिता जी ! तैयारी करने के बाद सूचित करने का विचार था। मैं बिना आपकी आज्ञा के कैसे जा सकती हूँ ? कदाचित आप भ्रम में पड़ गये हैं।”

ब्रह्मदेव ने सुनन्दा की बातों को सुनकर कहा, “क्या मैं जान सकता हूँ कि तुम कहाँ के लिए तैयारी कर रही हो ? यदि सुमना के साथ कहीं जाने का संकल्प किया हो तो मैं सहमत नहीं हूँ।”

सुनन्दा ने बड़े ही धैर्य के साथ कहा, “आजकल मैं सुमना से संतुष्ट नहीं हूँ। दो सप्ताह हुए मैंने उसके दर्शन भी नहीं किये। उसे न्यायाधीश की पुत्री होने का अधिक अभिमान है।”

ब्रह्मदेव ने प्रसन्न होकर कहा, “मुझे तुमसे ऐसी ही आशा थी। सर्वमित्र अपने मन में यह समझने लगा है कि कंण्टक-शोधन का न्यायालय उसकी अपनी सम्पत्ति है। जयसेन के लिए उसने प्राण-दण्ड का जो निर्णय किया है, मैंने उसका

खण्डन करते हुए सब भाँति न्याय तथा धर्म को समझाने का प्रयत्न किया किन्तु उसने एक न सुनी और अन्यायपूर्ण न्याय किया ।

सुनन्दा ने समझाते हुए कहा, “आपने अपने धर्म का पालन किया । न्यायान्याय का उत्तरदायी वह है जो अन्तिम निर्णायक होता है । मेरा संकल्प तो इस समय इतना ही है कि मैं वाराणसी का भ्रमण कर आऊँ । यदि आप अनुचित समझें तो मैं संकल्प का त्याग कर सकती हूँ ।”

ब्रह्मदेव ने कुछ विचार करते हुए कहा, “वाराणसी जाने का विचार मेरा भी है किन्तु जब तक न्यायालय सम्बन्धी कार्यों को पूरा नहीं कर लेता तब तक मेरा प्रस्थान नहीं हो सकेगा ।”

इतने में धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का सेवक अभय आकर कहने लगा, “हमारे अन्नदाता ने यह जानना चाहा है कि मेरे सम्बन्ध में प्रवेश होने वाले अभियोग के निर्णय को आप किस प्रकार हमारे अनुकूल कराने का प्रयत्न करेंगे । यदि परामर्श की आवश्यकता हो तो आप इस समय चलकर हमारे अन्नदाता से मिल लें । वे उचित परामर्श से आपके तर्क को अधिक पुष्ट कर देंगे । सफलता का मार्ग सरल हो जायगा और आपका सुयश अमरता को प्राप्त कर लेगा ।”

ब्रह्मदेव ने अभय से कहा, “तुम किसकी आज्ञा से यहाँ चले आये ? जिस अपराध के कारण जयसेन को प्राण-दण्ड का आदेश हुआ है, वही अपराध इस समय तुमने भी किया है ।”

डरते हुए अभय ने कहा, “जयसेन तो मेरा प्राण लेना

चाहता था । घातक होने के कारण उसे वह दण्ड मिला है । जब स्वयं मौर्य-राज ने उसपर हस्ताक्षर कर दिया है तब आप व्यर्थ उस उदाहरण को काम में ला रहे हैं । जब प्राड्विवाक की दाल गलाये न गली तब आप जैसे साधारण अमात्य की गिनती ही क्या है ? हम अपने अन्नदाता की बातें सह सकते हैं किन्तु प्रत्येक व्यक्ति की नहीं । यदि आपको अपनी जीविका से ममता होगी तो आप हमारे अन्नदाता से एक बार नहीं, सौ बार मिलेंगे । मुझे तो अन्नदाता के प्रताप से किंचिन्मात्र भय नहीं है । जैसा मेरा नाम है वैसा ही मेरा स्वभाव है । भयभीत होकर रहनेवाला अभय हो ही नहीं सकता ।”

सुनन्दा ने ब्रह्मदेव से कहा, “पिता जी ! मृत्यु का समय समीप आने पर पिपीलिका के भी पंख निकल आते हैं । निर्वा पित होने के पूर्व दीपक क्षणभर के लिए अधिक प्रकाशमान हो जाता है । समुद्र में मिलकर अपने जीवन को समाप्त करने वाली सरिता का प्रवाह अधिक प्रखर हो जाता है । वर्षा के अंतिम मेघ भी भयानक रूप से गर्जना करते हैं । इसी प्रकार अभय के भी अंतिम दिन समीप आ गये हैं तभी यह इस प्रकार मर्यादा का उल्लंघन करता हुआ कटु शब्दों का प्रयोग कर रहा है । आप इस पर क्रोध न करें । इसके अभियोग का अंतिम निर्णय न आपके तक पर है और न कण्टकशोधन न्यायालय के न्यायाधीश की इच्छा पर है । धर्ममहामात्र धर्मदर्शी क्या, यदि उनके सहायक देवतागण आ जाँय तब भी वे अभय को नहीं बचा सकेंगे ।”

सुनन्दा की बातोंको सुनकर अभय ने नम्रता के साथ निवेदन किया, “तो फिर मुझे कौन बचा सकता है ? यदि मेरे बचाने वाले का नाम इस समय मुझे विदित हो जाय तो मैं उसके समीप दौड़ जाऊँ । क्या मैं आपसे इस बात की आशा करूँ कि आप मेरी रक्षा का उपाय यथाशीघ्र बताने की कृपा करेंगी ।”

ब्रह्मदेव ने अभय से कहा, “सुनन्दा यों ही बक रही है ।”

अभय ने दृढ़ता के साथ कहा, “सुनन्दा, सुमना, सुनेत्रा और चन्द्रमित्रा—मैं इन चारों को जानता हूँ । बड़ी सुशील तथा धार्मिक हैं । सत्य भाषण को छोड़ कर मिथ्या भाषण नहीं करतीं । इस मौर्यराज्य की नाड़ी समझने वाली यही चार हैं, इसलिए सुनन्दा की बात में सत्यता है और उस सत्यता के पीछे कोई रहस्य है । रहस्य की अन्तरात्मा में कोई मूर्ति अवश्य है । यदि उस मूर्ति का संकेत भी मिल जाता तो मैं अपने प्राणों की रक्षा कर सकता ।”

सुनन्दा ने कहा, “यदि सत्य भाषण करोगे तो मैं सब उपाय बतला दूँगी । अन्यथा नहीं ।”

अभय—“मैं मिथ्या भाषण नहीं करूँगा । आप प्राण-रक्षा का उपाय शीघ्र बतला दें ।”

सुनन्दा—“मेरे प्रश्नों का उत्तर मेरे पिता जी को लिखा दो और उस पर अपना हस्ताक्षर करो ।”

अभय—“मैं प्रस्तुत हूँ । आप प्रश्नों को कह चले । पल पल इस समय युग के समान हो रहा है ।”

सुनन्दा ने अपने पिता ब्रह्मदेव से कहा, “आप यदि कष्ट स्वीकार करेंगे तो कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो जायगा। आप मेरे प्रश्न और इसके उत्तर को लिपि-बद्ध कर लें।”

बिना किसी तर्क के ब्रह्मदेव लेखनी और पत्र ले आये।

सुनन्दा ने अभय से प्रश्न किया:—

“धर्मदर्शी सदाचारी हैं या व्यभिचारी?”

“व्यभिचारी।”

“धर्मदर्शी के व्यभिचारी होने का प्रमाण क्या है?”

“पाटलिपुत्र की सभी वर्णदासियाँ* उनके यहाँ आ चुकी हैं। सभी के यहाँ उनका दिया हुआ कोई न कोई चिह्न अवश्य प्राप्त होगा। पाँच वर्णदासियाँ जो यहाँ की प्रसिद्ध हैं वे प्रायः आया करती हैं। उनके आने का समय रात्रि का तीसरा पहर है और चौथे पहर का आरंभ होते ही वे चली जाती हैं। इससे अधिक प्रमाण मेरे पास कुछ भी नहीं है।”

“उपशान्ता उनके भवन पर क्यों गई थी?”

“धर्मदर्शी ने उपशान्ता के लिए विशेष अनुचर नियुक्त किये थे।”

“उपशान्ता को धर्मदर्शी किस प्रकार जानते थे?”

“धर्मदर्शी, अजित और उपशान्ता ये तीनों एक ही स्थान के रहनेवाले हैं। धर्मदर्शी का प्रेम उपशान्ता के लिए मर्यादा का पार कर रहा था और उपशान्ता का प्रेम अजित के लिए क्रमशः पनप रहा था। यह यौवन के प्रारंभ का सारांश है—ऐसा

*वर्णदासियाँ—वेश्याएँ

मैंने सुना है।”

“जयसेन ने तुम पर आक्रमण क्यों किया था ?”

यह तो एक जाल था। उसने तो केवल भक्तभोरा भर था। धर्मदर्शी सेनापति पुष्यमित्र से वैर भाव रखते हैं। उन्हीं का सेवक होने के कारण यह जाल तैयार किया गया था। अनुमान किया गया था कि सेनापति पुष्यमित्र जयसेन को छुड़ाने का प्रयत्न करेंगे। जब वे शान्त रहे तब अब उनको उभाड़ने के लिए जयसेन को दो सप्ताह तक धुमाया जाना घोषित किया गया है। सेनापति पुष्यमित्र का अनिष्ट-साधन इस समय हमारे अन्नदाता धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का ध्येय है। मौर्यराज बृहद्रथ तो उनके हाथ के पुतले बने हुए हैं। इस समय जितने आदेश मौर्यराज के निकल रहे हैं वास्तव में वे सब हमारे अन्नदाता के ही हैं।”

“ऐसी दशा में तुम्हें अपने अन्नदाता की शरण में रहना चाहिए। क्या तुम्हें उनकी शक्ति पर विश्वास नहीं है ? यदि विश्वास नहीं है तो उनके यहाँ का रहना क्यों नहीं छोड़ देते ?”

“मुझे तो उनकी शक्ति पर पूरा विश्वास है। ऐसी दशा में उन्हें मैं नहीं छोड़ सकता।”

सुनन्दा ने अभय के उत्तरों को सुनकर कहा, “मैं तुम्हारे सत्यभाषण से प्रसन्न हूँ।”

अभय ने हाथ जोड़कर कहा, “तो फिर मेरे प्राणों की रक्षा का उपाय बतला दे।”

सुनन्दा ने कहा, “पहिले अपने उत्तरों के नीचे हस्ताक्षर करो ।”

अभय ने हस्ताक्षर कर दिये । सुनन्दा ने कहा, “सुदर्शना के वक्तव्य पर तुम्हारे अभियोग का निर्णय होगा । यदि सुदर्शना को संतुष्ट कर सके तो तुम्हारे प्राण बच जायेंगे ।”

अभय ने प्रश्न किया, “सुदर्शना का तो मुझे पता तक भी नहीं ज्ञात है ।”

सुनन्दा ने कहा, “कुक्कुटाराम या उसके आस-पास कहीं मिल जायगी ।”

“अच्छी बात है । अभी जाता हूँ ।” कहता हुआ अभय चला गया ।

उसके जाने के बाद ब्रह्मदेव ने सुनन्दा से कहा, “क्या यह प्राणों की रक्षा कर सकेगा ?”

सुनन्दा ने कहा, “इसने सुप्रतीत का घात किया ही नहीं, फिर दंड क्यों भोगे ?”

ब्रह्मदेव—“तुम्हारे पास इसका प्रमाण क्या है ?”

सुनन्दा—“प्रमाण हो या न हो किन्तु मेरा अनुमान ऐसा ही है ।”

ब्रह्मदेव—“अनुमान से ही न्याय नहीं होता । प्रमाण का होना आवश्यक है ।”

सुनन्दा ने साधारण ढङ्ग से कहा, “आपसे तर्क कर सकूँ इतना सामर्थ्य मुझ में नहीं है । बस इतना ही कह सकती हूँ कि सुप्रतीत के अभियोग में अभय निरपराध है । निरपराध की

रक्षा होनी चाहिए।”

ब्रह्मदेव ने गंभीरता की मुद्रा धारण करते हुए कहा, “अन्तर्यामी भगवान उसकी रक्षा करेंगे।”

सुनन्दा ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, “आपकी यह उक्ति युक्तिपूर्ण है। अन्तर्यामी भगवान कभी अन्याय नहीं होने देंगे। उनके विधान में सत्य, न्याय और धर्म को ही प्राण माना गया है।”

ब्रह्मदेव ने भुँझलाकर कहा, ‘तो फिर जयसेन के अभियोग में अन्याय क्यों हुआ?’

सुनन्दा ने विहँस कर कहा, “यही तो हम लोगों का भ्रम है। जयसेन ने ऐसा कोई अपराध अवश्य किया होगा जिसके लिए उसे दंड होना चाहिए था। मैं तो भगवान के न्याय की भूरि-भूरि प्रशंसा करती हूँ। आप उद्ध भावना से प्रेरित होकर विचार करे तो स्पष्ट हो जायगा कि सर्वदर्शी भगवान की प्रेरणा कभी अन्याय के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए नहीं होती।”

ब्रह्मदेव ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, “जयसेन का अपराध किस श्रेणी का हो सकता है यह मैं न समझ सका और न समझ सकता हूँ। मुझे तो आश्चर्य इस बात का हो रहा है कि तुममें इतनी बुद्धि कहाँ से आई? क्या तुमने किसी प्रकार की दैवी शक्ति को प्राप्त कर लिया है?”

सुनन्दा ने समझाते हुए कहा, जयसेन का अपराध सेनापति पुष्यमित्र जानते हैं। जयसेन का अपराध चन्द्रमित्रा जानती हैं। जयसेन का अपराध सुनेत्रा जानती हैं। जयसेन का अप-

राध सुमना जानती हैं और जयसेन का अपराध मैं भी जानती हूँ।”

ब्रह्मदेव ने सुनन्दा से कहा, “तां फिर तुम सबों ने उसके अपराध को छिपाया क्यों है ? ज्ञात हो रहा है कि मौर्य-राज्य के विनाश के लिए जो षडयंत्र रचा जा रहा है उसमें तुम्हारा भी हाथ है।”

सुनन्दा ने दृढ़ता के साथ उत्तर दिया, “राजधर्म की रक्षा के लिए जो प्रयत्न किया जा रहा है उसमें मेरा हाथ अवश्य है। राजधर्म की रक्षा जो नहीं करता उसका विनाश अनिवार्य है।”

ब्रह्मदेव ने प्रश्न किया, “राजधर्म और मानवधर्म—इन दोनों में अन्तर क्या है ?”

सुनन्दा ने उत्तर दिया, “केवल नाम का अन्तर है—संसार के हित-साधन में दोनों समान हैं।”

१७

पतञ्जलि पाटलिपुत्र में कब और क्यों आये; इसको कोई नहीं जान सका। बस, इतना ही प्रसिद्ध कर दिया गया कि मध्य भारत के विद्वान् तथा व्याकरण के महाभाष्यकार पतञ्जलि का शुभागमन हो चुका है। जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं वह एक ऐसा समय था कि दार्शनिक ज्ञान का प्रकाश चारों ओर प्रकाशमान हो रहा था। बौद्ध-दर्शन, जैन-दर्शन और वैदिक दर्शन ये तीनों ही परस्पर स्पर्धा करते हुए जनता के

आन्तरिक अंधकार का विनाश करने के लिए प्रयत्न कर रहे थे ।

सम्राट अशोक ने जब से अपने को बौद्ध-धर्मावलम्बी होना घोषित कर दिया तब से बौद्ध धर्म मौर्यकालीन भारत का राज-धर्म हो चुका था । ज्ञान की पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ बौद्ध धर्म जब से राजधर्म के अभिमान में आ गया तब से वह जनता प्रवाह में आकर्षण का एक कारण बन गया । राज-कृपा की अभिलाषा से कुछ ऐसे व्यक्ति बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये जिनका स्वार्थ बौद्ध-धर्म और राजवंश के प्रति विद्वेष का उत्पादक हो गया ।

जिस समय पतञ्जलि का नाम पाटलिपुत्र में प्रसिद्ध किया गया उस समय से लेकर प्रतिदिन जनता का एक भाग उनके समीप आने लगा । उनमें से सुदत्त और सुदेव का नाम उल्लेखनीय है । सुदत्त ने पतञ्जलि से प्रणाम करते हुए प्रश्न किया, “यदि हम व्याकरण का अध्ययन न करें तो उससे हानि क्या है ? क्या बिना व्याकरण के हमारे जीवन का निर्वाह नहीं हो सकेगा ?”

सुदत्त के प्रश्न का उत्तर देते हुए पतञ्जलि ने कहा, “जिस पुरुष ने समस्त शास्त्रों का तो अध्ययन कर लिया है किन्तु व्याकरण से शून्य है उस पुरुष के मुख से निकला हुआ शब्द उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार विधवा के ललाट में सिन्दूर का बिन्दु व्यर्थ है ।”

सुदेव ने प्रश्न करते हुए कहा, “व्याकरण से मानव-जीवन

का सम्बन्ध क्या है ?”

पतञ्जलि ने समझाते हुए कहा, “हम आर्यों का धर्म वैदिक है। ‘वेदोऽखिलो धर्ममूलम्।’ अर्थात् समस्त धर्मों का मूल वेद है। वेदमंत्रों के द्रष्टा ऋषियों से श्रवण करके जो वेद-संहिताएँ प्रस्तुत की गईं वे ‘श्रुति कही गईं। श्रुतियों के मंत्रों का स्मरण करके जो ग्रन्थ रचे गये वे ‘स्मृति’ कहलाये। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद इन चारों वेदों के तीन तीन भाग किये गये। जिस भाग में केवल मंत्रों का संग्रह है उसका नाम है ‘संहिता वेद’। जिस भाग में केवल वेद मंत्रों की व्याख्या गद्य में की गई है और यज्ञों का विवरण है उस भाग को “ब्राह्मण” कहते हैं। इसी भाग के अन्तर्गत ‘आरण्यक भी’ है। जिस भाग में ब्रह्मविद्या के गंभीर उपदेश दिये गये हैं उस भाग का नाम ‘उपनिषद्’ है। उपनिषद् को ही वेदान्त भी कहते हैं क्योंकि वेदों के ज्ञानकाण्ड का पर्यवसान इन्हीं ग्रन्थों में है।”

पतञ्जलि ने ज्यों ही इस प्रकार समझाना आरंभ किया त्योंही सुदेव और सुदत्त समझ गये कि वे जिससे सम्वाद कर रहे हैं वह कोई साधारण पुरुष नहीं है। पतञ्जलि ने सुदेव से कहा, “यदि यहाँ तक समझ में आ गया हो तो मैं अपने विषय को लेकर आगे बढ़ूँ।”

सन्तोषजनक उत्तर पा जाने पर पतञ्जलि कहने लगे, “जब वेद का साहित्य अधिक विस्तृत हो गया तब उसके कण्ठस्थ करने का सुगम मार्ग निकाला गया। अल्प से अल्प शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ प्रकट करने का प्रयत्न किया गया। ऐसी

संक्षिप्त पदावली को सूत्र कहते हैं। वेदांग के सभी विषयों पर सूत्र ग्रन्थ रचे गये। वेदों का अर्थ समझने के लिए कई अन्य विषयों के अध्ययन की आवश्यकता है। वे विषय छः हैं जो वेदांग कहाते हैं। षडंग के अनुशीलन के बिना वेद का अध्ययन यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, कल्प तथा ज्योतिष यही षडंग अथवा वेदांग हैं। इन्हीं के सूत्रों को वेदांग सूत्र कहते हैं।”

इतना सुनने के बाद सुदेव ने कहा, “मेरा तो प्रश्न यह है कि मानव-जीवन से व्याकरण का सम्बन्ध क्या है?”

पतंजलि ने कुछ सोचकर उत्तर दिया, “स्वर, व्यंजन; संधि-विग्रह, लिंग, शब्द रूप, धातु रूप, कृत् प्रत्यय, समास, कारक, तथा तद्धित प्रत्यय यही व्याकरण के मुख्य अंग हैं।”

सुदेव—“किन्तु मेरे प्रश्न का उत्तर कहाँ है?”

पतंजलि—“स्वर और व्यंजन दोनों ही अक्षर हैं। अक्षर उसे कहते हैं जिसका विनाश नहीं होता।”

सुदत्त ने प्रसन्न होकर सुदेव से कहा, “कितनी सुन्दर व्याख्या है। ध्यान से सुनना।”

पतंजलि—“जो स्वयं शक्तिमान् है उसे स्वर कहते हैं और जो स्वर की सहायता से ही स्थिर रह सकता है उसे व्यंजन कहते हैं। अथवा यों समझ लेना चाहिए कि स्वर की व्यंजना के लिए जिन अक्षरों का होना आवश्यक है वे अक्षर व्यंजन कहे जाते हैं।”

सुदेव ने नम्रता-पूर्वक कहा—“आपका यह भाष्य बोधगम्य

तथा सराहनीय है।”

पतंजलि—“मूल स्वर तीन हैं—अ इ उ । और ये तीनों ही लघु हैं । लघु का लघु से संयोग ही गुरु बना देता है । लघु और गुरु दोनों को ही जो अपने में धारण किये हुए है वही प्लुत है । ओ३म् यह अक्षर परमात्मा का बोध करानेवाला प्लुत है और सार्द्धमात्र भी है । अर्थात् तीन लघु अथवा एक लघु और एक गुरु तथा अर्धमात्रा के साथ यह वेद का बीजमंत्र बना हुआ है ।”

सुदत्त ने कहा, “यह मेरी समझ में नहीं आया । थोड़ा सा स्पष्ट करके समझा दें ।”

पतंजलि कुछ कहने ही जा रहे थे कि इतने में प्राङ्ग्विवाक वहाँ पर आ गया । प्राङ्ग्विवाक ने अपना परिचय देते हुए कहा, “मैं सेनापति पुष्यमित्र के कथनानुसार आपकी सेवा में उपस्थित होने के लिए आया हूँ । आशा है एतदर्थ आप मुझे क्षमा करने की कृपा करेंगे ।”

सुदेव और सुदत्त दोनों ही प्राङ्ग्विवाक को पहिचानते थे । उसके आते ही वे दोनों वहाँ से चले गये । उन दोनों के जाने के बाद पतंजलि ने प्राङ्ग्विवाक से आने का कारण पूछा । उत्तर देते हुए प्राङ्ग्विवाक ने अपना समस्त वृत्तान्त कह सुनाया । पतंजलि ने बड़े ध्यान से उसकी बातों को सुना और उत्तर देते हुए कहा, “वास्तव में आपने बड़ा दुस्साहसपूर्ण कार्य किया है ।”

प्राङ्ग्विवाक—“कर्तव्य के अनुरोध से मेरे लिए ऐसा करना अनिवार्य हो गया था ।”

पतंजलि—“कर्तव्य के अनुरोध पर ध्यान देना ही आपके लिए अहितकर हो गया ।”

प्राङ्ग्विवाक—“यदि मेरे अहित से मौर्य-राज्य की प्रजा का हित होता है तो कोई हानि नहीं है ।”

पतंजलि—“मौर्य-राज्य की प्रजा का हित तब होता, जब आप अपना हित मोच लेते ।”

प्राङ्ग्विवाक—“स्वार्थ की भावना को नष्ट किये बिना प्रजा का हित नहीं किया जा सकता ।”

पतंजलि—“किन्तु आपके स्वार्थ की भावना ने ही आपसे त्याग-पत्र दिलाया है ।”

प्राङ्ग्विवाक—“जिसने इतने बड़े सम्मानपूर्ण पद का त्याग किया है उसे आप स्वार्थी न समझें ।”

पतंजलि—“यदि वह स्वार्थी न होता तो अपने कर्त्तव्यभार से दूर भागने का प्रयत्न न करता ।”

पतंजलि की इन बातों को सुनकर प्राङ्ग्विवाक ने आश्चर्य करते हुए प्रश्न किया, “प्राङ्ग्विवाक का पद कितना गौरवपूर्ण है-कदाचित् आप न जानते होंगे । यदि जानते होते तो इस प्रकार आप मुझे स्वार्थी न कहते । यह आपका दोष नहीं है । आपके अपूर्ण पाण्डित्य का यह एक आदर्श है ।”

सहनशीलता को अपनाते हुए पतंजलि ने प्राङ्ग्विवाक से कहा, “मौर्यशासन के इतिहास में प्राङ्ग्विवाक का पद न्याय के विषय में वह पद है जिसके नीचे समस्त राज्य और जिसके ऊपर केवल एक राजा ही है । मुझे तो खेद है कि सर्वोच्च श्रेणी

में रहकर भी आप अपने को न समझ सके ।”

प्राङ्विवाक ने हाथ जोड़ कर प्रार्थना किया, “यदि आप मेरी त्रुटियों को बतला दें तो मैं अपने ऊपर आपका बड़ा उपकार मानूँगा । संभव है कि मैंने अज्ञानतावश त्रुटि को ही अपना लिया हो ।”

पतंजलि ने समझाते हुए कहा, “न्याय के विषय में जब मौर्यराज वृहद्रथ के सभी अधिकार आपको प्राप्त थे, तब आप अपने कतव्य का पालन न करके उनके पास क्यों गये ? प्राङ्विवाक के पद पर होते हुए भी आपने वह कार्य किया है जो कि प्रतिवेदक को करना चाहिए था । आपने अपने स्वार्थ के कारण अपने ही अकृत्यकर्म से अपने को गिरा दिया है । इसमें किसी का अपराध नहीं है ।”

प्राङ्विवाक ने प्रश्न किया, “अब मुझे किस मार्ग को अपनाना चाहिए जिससे कि प्रजामात्र का हित कर सकूँ ? जो हाथ से गया उसे भूल जाना ही उचित है । मैं आपको अपना गुरु बना कर जीवन के रंग-मंच पर नये अभिनय को आरंभ करना चाहता हूँ । आप की कृपा भर चाहिए ।”

पतंजलि ने उत्तर देते हुए कहा, “मैंने अभी तक किसी मार्ग का निर्माण नहीं किया है, अतएव जितने मार्ग प्राचीन काल के निर्मित हैं, उन्हीं में से किसी एक को अपना लें । प्रजा का हित होगा ही ।”

प्राङ्विवाक—“प्राचीन काल के निर्मित मार्गों में से सनातन मार्ग तो एक ही है । आर्य सभ्यता का प्रथम विकास उसी

मार्ग पर हुआ है। यदि हम उसे वैदिक मार्ग कहें तो अनुचित न होगा।”

पतंजलि—“चाहे आप वैदिक मार्ग कहें या सनातन मार्ग। दोनों तो एक ही मार्ग हैं। सोचने और विचारने की बात इतनी है कि इस मार्ग पर चलने का वास्तविक उद्देश्य क्या होगा?”

प्राङ्बिवाक—“प्रजामात्र का हित-साधन करना ही हमारा मुख्य उद्देश्य होगा।”

पतंजलि—“यदि आप व्याकरण का अध्ययन पूर्णांग किये होते, तो मेरे प्रश्न को समझ सकते।”

प्राङ्बिवाक—“व्याकरण से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। हम तो प्रजा का हित चाहते हैं।”

पतंजलि—“प्रजा का हित-साधन आपका कर्म है या नहीं?”

प्राङ्बिवाक—“निस्सन्देह मेरा कर्म प्रजा का हित-साधन है।”

पतंजलि—“प्रजा के हित-साधन का जो कर्म है उसका करने वाला या कर्ता कौन है?”

प्राङ्बिवाक—“मैं प्राङ्बिवाक प्रजा के हित-साधन रूपी कर्म का कर्ता हूँ।”

पतंजलि—“किस स्थान की प्रजा का हित-साधन आप करेंगे?”

प्राङ्बिवाक—“मैं मौर्य-राज्य की प्रजा का हित-साधन

करूँगा ।”

पतंजलि—“आप का कार्य क्षेत्र किस सीमा तक सीमित रहेगा ?”

प्राड्विवाक—“मौर्य-राज्य की जितनी सीमा है, वहीं तक मेरा क्षेत्र सीमित रहेगा ।”

पतंजलि—“किसकी सहायता से आप अपने को सफल बनाने का प्रयत्न करेंगे ?”

प्राड्विवाक—“प्रजा की सहायता से हम प्रजा का हित-साधन करेंगे ।”

पतंजलि—“कहाँ से आप अपने सहायकों का निर्वाचन करेंगे ?”

प्राड्विवाक—“प्रजा के ही समूह में से हम अपने सहायकों का निर्वाचन करेंगे ।”

पतंजलि—“यह सब कार्य आप किसके निमित्त करेंगे ?”

प्राड्विवाक—“आपस के संघर्ष को मिटा कर मानव धर्म की स्थापना के लिए ।”

पतंजलि—“व्याकरण के एकांग का परिशीलन हो गया अर्थात् सभी कारकों का प्रयोग हो गया ।”

प्राड्विवाक—“किस प्रकार ?”

पतंजलि—“मैं मौर्यराज्य में मानव धर्म की स्थापना के लिए राज्य की प्रजा की सहायता से सहायकों का निर्वाचन प्रजा समूह से करते हुए प्रजा का हित-साधन करूँगा । आपके इस वाक्य में सभी कारक हैं ।”

पतंजलि और प्राड्विवाक में व्याकरण सम्बन्धी बातें विलम्ब तक होती रहीं। जब पतंजलि को यह विश्वास हो गया कि प्राड्विवाक अपने सत्य-संकल्प का त्याग नहीं करेगा, तब उन्होंने उससे कहा, “यदि आप प्रजा का हित-साधन करना चाहते हैं तो जाकर चन्द्रमित्रा की सहायता कीजिए।”

प्राड्विवाक ने कहा, “चन्द्रमित्रा का वास-स्थान किस दिशा में है?”

पतंजलि—“यहाँ से ठीक पूर्व की ओर है। मध्य का राज-मार्ग जिस स्थान पर जाकर अपने सौन्दर्य का अन्त कर देता है, उसी स्थान पर एक सुन्दर चित्ताकर्षक उद्यान है। उसी उद्यान के मध्यभाग में एक विशाल भवन है। वही विशाल भवन चन्द्रमित्रा का वास-स्थान है।”

पतंजलि को प्रणाम करके प्राड्विवाक चन्द्रमित्रा से मिलने के लिए चल पड़ा। थोड़ी ही दूर गया होगा कि उसने देखा—कोई पुरुष उसी की ओर शीघ्रगति से बढ़ा चला आ रहा है। कौन आ रहा है इसे जानने के लिए वह रुक गया। प्राड्विवाक को राजमार्ग पर खड़ा देखकर वह पुरुष रुक गया। उसका रुक जाना ही प्राड्विवाक के लिए आश्चर्य का कारण हो गया। बड़ी देर तक दोनों अपने अपने स्थान पर खड़े रहे। कोई टस

से मस नहीं हो रहा था ।

प्राङ्‌विवाक ने साहस करते हुए अपने को आगे बढ़ाया । वह पुरुष पीछे की ओर हटने लगा ।

ज्यों ज्यों प्राङ्‌विवाक आगे बढ़ता त्यों त्यों वह पीछे हटता । अब तो प्राङ्‌विवाक का विश्वास हो गया कि वह कोई दुष्ट स्वभाव का पुरुष अवश्य है । इसलिए शीघ्रता से पीछा करने को वह प्रस्तुत हो गया । जैसे ही उसने अपनी गति को शीघ्रता प्रदान की वैसे ही वह भी शीघ्रता से भागने लगा । उसका पीछा करते करते प्राङ्‌विवाक अधिक थक गया किन्तु उसने पीछा करना बन्द न किया । अन्त में वह भागने वाला पुरुष एक स्थान पर ठोकर खाकर गिर पड़ा । उसका गिरना था कि प्राङ्‌विवाक उसके समीप जाकर खड़ा हो गया । उसने उससे उसका नाम पूछा ।

उसने अपना नाम अभय बतलाते हुए कहा, “जयसेन के प्राण-दण्ड में मेरा अपराध नहीं है ।”

प्राङ्‌विवाक ने अभय से कहा, “तुम इस प्रकार क्यों भागने लगे थे ?”

उसने कहा, “मैं धर्ममहामात्र धर्मदर्शी का विशेष कृपा-पात्र सेवक हूँ ।”

प्राङ्‌विवाक ने उसे समझाते हुए कहा, “मैं पूछता क्या हूँ और तुम कहते क्या हो ?”

उसने कहा, “कौन कहता है कि सुदर्शना चंडाल-कन्या है ? वह देवी का अवतार है ।”

प्राङ्‌विवाक, “यदि तुम अभय होते तो इस प्रकार मुझसे डर कर न भागते ।”

उसने हँसते हुए कहा, “यदि आप मेरा विवाह करा दें तो मैं आपसे नहीं डरूँगा ।”

प्राङ्‌विवाक ने समझ लिया कि वह कोई पागल है । उसके पास से चलकर वह पतंजलि के बताये हुए स्थान पर आ गया । चित्ताकर्षक उद्यान के प्रवेश द्वार को पार कर वह उसके भीतर गया । चलते चलते वह विशाल भवन के पास जाकर बैठ गया । किन शब्दों से उस समय वह चन्द्रमित्रा को बुलाता यह उसकी समझ में नहीं आ रहा था ।

सोचते सोचते उसने साहस किया और द्वार पर जाकर द्वार की शृंखला से शब्द करने लगा । शब्द को सुनते ही चन्द्र-मित्रा तुरन्त दौड़ी आई । देखते ही वह पहिचान गई । प्राङ्‌विवाक ने उसे देखकर कहा, “पतंजलि से जब तुम्हारा पता विदित हुआ तब चला आया ।”

चन्द्रमित्रा ने समादर करते हुए कहा, “मौर्यराज के सर्वोच्च पदाधिकारी हांते हुए जब आप मेरे यहाँ पधारे हुए हैं, तब समझ लेना चाहिए कि मेरे सौभाग्य का उदयकाल सन्निकट है । मेरे यहाँ आप आयेंगे इसकी कल्पना मैंने स्वप्न तक में भी नहीं की थी ।”

चन्द्रमित्रा की मधुर वाणी से प्राङ्‌विवाक का हृदय गद्‌गद् हो गया । उत्तर देते हुए उसने कहा, “हेतु-विद्या में जिस चन्द्र मित्रा ने कुशलता प्राप्त कर ली है उसके जीवन में स्वप्न को

स्थान मिलना ही नहीं चाहिए ।”

“आप भवन में प्रवेश करके विश्राम करें । यह हेतु-विद्या अर्थात् तकेशास्त्र के लिए उपयुक्त स्थान नहीं है ।” इतना कहकर मार्ग दिखाती हुई चन्द्रमित्रा प्राङ्‌विवाक के साथ भवन के भीतर गई ।

भवन के भीतर जाकर आसन पर बैठते ही प्राङ्‌विवाक ने अभय का वृत्तान्त कह सुनाया । सुनकर चन्द्रमित्रा ने कहा, “उस धूर्त ने किसी कारणवश आप में भ्रान्ति उत्पन्न कर दी होगी ।”

“उसने भ्रान्ति उत्पन्न कर दी होगी ! क्या प्राङ्‌विवाक भ्रान्त हो चुका है ?” ऐसा प्राङ्‌विवाक ने कहा ।

“संज्ञा-भ्रान्ति, संख्या-भ्रान्ति, संस्थान-भ्रान्ति, वर्ण-भ्रान्ति, कर्म-भ्रान्ति—इन पाँचों भ्रान्तियों से ही चित्त-भ्रान्ति तथा दृष्टि-भ्रान्ति का जन्म होता है । धूर्तों का काम भ्रान्ति उत्पन्न कर देना है ।”

इतने में वहाँ पर उपशान्ता भी आ गई । प्राङ्‌विवाक को प्रणाम करके उसने चन्द्रमित्रा के समीप अपना आसन ग्रहण किया और उससे नवागन्तुक का परिचय जानना चाहा । पूर्ण-रूप से परिचय देने के बाद उसने अभय की धूर्तता का भी वर्णन किया । सुनते ही उपशान्ता ने कहा, “बाद अधिकरण* के प्रधान क्री ही जब ऐसी दशा है तब हम लोगों के लिए दुर्देशा का द्वार खुला ही हुआ है ।”

* बाद अधिकरण—राजसभा

उपशान्ता को समझाते हुए चन्द्रमित्रा ने कहा, “वाद अधिकरण के प्रधान होते हुए भी ये वाद से ही अपने को मुक्त किये हुए हैं। वाद, प्रवाद, विवाद, अपवाद, अनुवाद तथा अववाद ये वाद के जो भिन्न भिन्न प्रकार हैं उनमें से एक से भी इनका सम्बन्ध नहीं है। तभी तो इन्हें त्यागपत्र देना पड़ा है।”

उत्तर देती हुई उपशान्ता कहने लगी, “न्याय में हेतुविद्या अर्थात् तर्कशास्त्र की आवश्यकता अधिक रहती है। उसके अभाव में इन्होंने किस प्रकार अपने कर्तव्य का पालन किया होगा ?”

इन दोनों की बातों को सुनकर प्राङ्गविवाक ने अपना मस्तक झुका लिया। चन्द्रमित्रा ने उसके मनोगत भावों को समझ लिया और उसको प्रसन्न करते हुए कहा, “यह स्पर्धा का स्थान नहीं है। अपने में जिन बातों का अभाव हो उन्हें दूर करने की यह तपोभूमि है। पारस्परिक संवाद ही इस तपोभूमि की दिनचर्या है। संवाद का सारांश ही इस दिनचर्या का परिणाम है। परिणाम को लेकर जन-हित-साधन करना ही यहाँ का जीवन है। जीवन उसी का नाम है जिसमें जागृति की प्रधानता है। बिना प्रकाश के जागृति व्यर्थ है। व्यर्थ जागृति मानव जीवन का अभिशाप है। अभिशापग्रस्त मानव-जीवन को अभिशाप से मुक्त करने का प्रयत्न निर्वाणका प्रयत्न है। निर्वाण-प्रयत्न का मार्ग अवनत-मस्तक होने का नहीं है। आप प्रयत्नशील होने के लिए आये हुए हैं अतएव उचित होगा कि आप हिमाचल के समान उन्नत-मस्तक बने रहने का संकल्प कर लें।”

उपशान्ता ने चन्द्रमित्रा से कहा, “स्वार्थ और अभिमान ये दोनों ही इनके पीछे पड़े हुए हैं।”

चन्द्रमित्रा ने कहा, “मेरा तो अनुमान है कि स्वार्थ और अभिमान ने ही इन्हें पदच्युत किया है।”

प्राङ्गविवाक अपने मन में कहने लगा, “पतञ्जलि ने भी ऐसा ही कहा था। क्या यह सत्य है कि मैं स्वार्थी तथा अभिमानी हूँ। यदि ऐसा है तो मुझ से बढ़कर दूसरा और कोई मूर्ख न होगा। सेनापति पुष्यमित्र ने मुझे मूर्ख समझा और पतञ्जलि से मिलने के लिए कहा। पतञ्जलि ने भी मुझे वैसा ही समझा और यहाँ भेज दिया। यहाँ भी आया तो स्पष्ट हो गया कि मेरा ज्ञान अपूर्ण था और मैं स्वार्थी तो हूँ ही, अभिमानी भी प्रमाणित हो गया। वास्तव में जन-हित-साधन का मार्ग कहने में जितना सरल है उतना ही संन्यास-मार्ग से अधिक ज्ञान पूर्ण तथा पर्वत-श्रेणी के मार्ग से भी अधिक जटिल और दुर्गम है। यह मार्ग शक्ति तथा ज्ञान का वास्तविक परीक्षक है।”

इस प्रकार मन में विचार करने के बाद प्राङ्गविवाक ने चन्द्रमित्रा से कहा, “विलंब करना व्यर्थ है। मेरे योग्य जैसी शिक्षा उचित समझो उसे सुलभ करा दो। मैं शीघ्र काम में लग जाना चाहता हूँ।”

व्याकरण के ज्ञान के बिना आप कुछ भी नहीं समझ सकेंगे। कुछ भी हो, मैं अपना कार्य प्रारंभ किये देती हूँ, क्योंकि समय अल्प है, काम अधिक है, इतने पर भी विघ्नों का भी भय वर्तमान है।”

उपशान्ता ने कहा, “जनता के हित-साधन के मार्ग में वाद बाधक बन जाता है। इसलिए मैं उचित समझती हूँ कि इस बाधा को निवारण कर सकने का सामर्थ्य इनमें उत्पन्न करा दिया जाय।”

प्राङ्‌विवाक ने प्रसन्न होकर कहा, “वाद अर्थात् तर्क कठिन विषय है। कुतर्की विघ्न करते ही हैं।”

चन्द्रमित्रा—“हेतु विद्या का प्रकाश आपके बाधक तथा विघ्नकारियों को परास्त कर सकेगा। अतएव संक्षेप में मैं उसे बतला रही हूँ। आप विद्वान् हैं। सरलता से ग्रहण कर सकेंगे।”

प्राङ्‌विवाक—“इस प्रकार समझाना जिसका भावार्थ हृदय में अपना स्थान अचल कर सके।”

चन्द्रमित्रा—“अब ध्यान से सुनें। अध्यात्म-विद्या, चिकित्सा-विद्या, हेतु-विद्या, शब्द-विद्या, तथा शिल्प कर्म स्थान-विद्या—ये पाँच प्रकार की विद्याएँ हैं। किसी एक का विद्वान् होने से भी काम चल सकता है। इन पाँचों में से जो एक भी नहीं जानता, वह अंधा है तथा अंधकार में उसका जीवन है।”

प्राङ्‌विवाक—“इतना तो मैं समझ गया कि हेतु-विद्या अर्थात् तर्कशास्त्र भी एक विद्या है।”

चन्द्रमित्रा—“हेतु-विद्या के छः खंड हैं—वाद, वाद-अधिकरण, वाद-अधिष्ठान, वाद-अलङ्कार, वाद-निग्रह तथा वादे बहुकर। इन छः खंडों पर पूर्ण मनन कर लेना चाहिए।”

प्राङ्‌विवाक—“तर्क, तर्क का स्थान, तर्क का विषय, तर्क का

भूषण, तर्क का दोष तथा तर्क की उपयोगी बातें—उपर्युक्त छः खंडों का अभिप्राय मैंने इस प्रकार समझ लिया है ।”

चन्द्रमित्रा—“तर्क के छः भाग हैं— वाद, प्रवाद, विवाद, अपवाद, अनुवाद तथा अववाद । तर्क का स्थान राज्य-परिषद अथवा योग्य व्यक्तियों का परिषद है । तर्क के विषय हैं साध्य तथा साधन । साधन आठ प्रकार के माने गये हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, सारूप्य, वैरूप्य, प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तागम ।”

प्राङ्ग्विवाक—“अब इन सब बातों को एक ही साथ समझ सकना कठिन हो जायगा ।”

उपशान्ता ने कहा—“तर्क का विषय कठिन होता ही है । समस्त संघर्ष का मूल यही एक तर्क है ।”

प्राङ्ग्विवाक—“किन्तु इस समय तर्क अपनी चरमसीमा को प्राप्त कर चुका है ।”

चन्द्रमित्रा ने कहा, “तर्क का भूषण क्या है—इसे समझना आवश्यक है । बिना इसके सब व्यर्थ है ।”

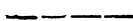
प्राङ्ग्विवाक—“इतना मैं भी जानता था किन्तु कदाचित् कोई नवीन वस्तु मिल जाय, इस लोभ से मैं शान्त-भाव से सुनता रहा । मुझे तो प्रसन्नता इस बात की है कि तुम दोनों ही प्रत्यक्ष विद्याओं की प्रतिमूर्ति हो । मेरे लिए कार्यक्रम प्रस्तुत कर दो । मैं चाहता हूँ कि अपने कार्य में लग जाऊँ । समय नष्ट करना अनुचित है । फिर जैसा उचित समझो ।”

उपशान्ता ने कहा, “यदि आप में स्वार्थ तथा अभिमान नहीं है और आप तर्क के भूषणों से पूर्णरूप से युक्त हैं तो आप

मौर्यराज बृहद्रथ के समीप जाकर खेद प्रकट करते हुए अपने पद को ग्रहण कर लें। यदि ऐसा कर सके तो सिद्ध है कि आप जनता के हित-साधन के मार्ग में राजधर्म को प्रकाशित कर सकेंगे।”

प्राङ्ग्विवाक — “राजधर्म का विनाश मेरा संकल्प है। मैं इस संकल्प का त्याग नहीं कर सकता।”

उपशान्ता — “मानव धर्म का राजसी स्वरूप राजधर्म है और राजधर्म का सात्विकी स्वरूप मानव धर्म है। मानव धर्म का राजसी स्वरूप यदि न रहा तो धर्म के सात्विकी स्वरूप का विनाश अनिवार्य हो जाता है। परिणाम में मानव धर्म का तामसी स्वरूप स्वतन्त्रा के नाम पर उच्छृङ्खलता को अपनाकर अमर्यादित अधर्म का सृजन करने लगता है। मानव-जीवन का विनाश न हो इसलिए राजधर्म की रक्षा आवश्यक है।”



१६

सुप्रतीत के हत्याकांड सम्बन्धी अभियोग में सुदर्शना का वक्तव्य क्या होगा ? इस प्रश्न को लेकर कुक्कुटाराम के बौद्ध भिक्षुओं में कुछ परस्पर संलाप कर रहे थे। सुदर्शना उन्हीं के मध्य नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा की भाँति शोभा पा रही थी।

उन सबों को समझाते हुए सुदर्शना ने कहा, “हम अपने को बौद्ध कहते हैं। जो कुछ बुद्धि से सिद्ध हो उसे ग्रहण करना और जो बुद्धि से सिद्ध न हो उसे त्याग करना हमारा उपदेश

है। यही एक कारण हैं कि उपनिषद् के अथक परिश्रम से स्थापित किये गए आत्मा के महान सिद्धान्त को प्रतीत्य समुत्पादी बौद्ध तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप छःआयतन (पाँचों इन्द्रियाँ और मन), स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान (ग्रहण अथवा ग्रहण करने की इच्छा) भव, (आवागमन) जाति (जन्म) जरामरण और जरामरण से फिर अविद्या। अविद्या के इसी चक्र को द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं ! इसीलिए हम कहते हैं कि रूप अनात्मा है, वेदना अनात्मा है, संज्ञा संस्कार और समस्त धर्म अनात्मा है। जो आत्मा को नित्य और अपरिवर्तनशील कहते अथवा मानते हैं वे केवल बाल-धर्म को ही अपनाये रहते हैं। दूसरे शब्दों में हम उन्हें ज्ञानशून्य कह सकते हैं। यही एक ऐसा ज्ञान है जिसने सुप्रतीत के लिए मुझमें अशान्ति नहीं होने दी।”

धर्म के इस नीरस भाग को पार कर जैसे ही सुदर्शना ने सुप्रतीत का उल्लेख किया वैसे ही बौद्ध-भिच्छु सचेत हो गये। उनके प्रश्न का उत्तर वह किस प्रकार देती है, यह उत्कण्ठा उन्हें अधीर कर रही थी। मानव-जीवन का प्रसंग किस भूमिका को लेकर उठता है और उपसंहार के किस विषय से समाप्त होता है- इस प्रश्नात्मक रहस्य की जटिलता उन सबों में एक अपूर्वभावना उत्पन्न कर रही थी।

सुदर्शना ने कहा, “तर्क के दो मुख्य विषय हुआ करते हैं। एक तो साध्य है और दूसरा साधन है।”

भिच्छुओं में से कोई, “आपने विषय को उचित स्थान से

आरंभ किया है !”

सुदर्शना—“मेरे वक्तव्य के भी मुख्य विषय दो होंगे । साध्य विषय यह होगा कि अभय ने सुप्रतीत की हत्या नहीं की । वह निरपराध है । इसी को सिद्ध करने के लिए जिस उपाय को अपनाऊँगी वह मेरा साधन होगा । हमारे धर्म का प्रताप हमारा सहायक बनकर साधन को सुलभ कर देगा ।”

भिक्षुओं में से—“जब आपको अपने धर्म पर इतना विश्वास है तब सफलता अनिवार्य है ।”

सुदर्शना—“अभय ने सुप्रतीत की हत्या नहीं की—यही वक्तव्य की प्रतिज्ञा होगी ।”

भिक्षुओं में से—“निस्सन्देह प्रतिज्ञा सत्यतापूर्ण तथा स्वाभाविक है ।”

सुदर्शना—“इसी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए अभय और सुप्रतीत की मित्रता का हेतु मुझे अपने को बतलाना पड़ेगा अन्यथा प्रतिज्ञा की सत्यता संदिग्ध हो जायगी ।”

भिक्षुओं में से—“प्रतिज्ञा की सत्यता का संदिग्ध होना बौद्ध धर्म का कलंक ही होगा ।”

सुदर्शना—“उदाहरण के लिए कुन्ती द्रौपदी आदि का नाम लेना अनुचित न होगा ।”

भिक्षुओं में से—“कदापि नहीं ।”

सुदर्शना—“स्वभाव सादृश्य में अभय और सुप्रतीत क स्वभाव का वर्णन करते हुए उनकी मित्रता को सिद्ध कर दूँगी । यही सारूप्य का काम देने के लिए अव्यर्थ होगा ।”

भिक्षुओं में से—“निस्सन्देह ! विना सारूप्य के मित्रता का होना असम्भव है ।”

सुदर्शना—“वैरूप्य की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत हो रही है ।”

भिक्षुओं में से—“जब अभय को निरपराध सिद्ध करना है तो फिर यह व्यर्थ है ।”

सुदर्शना—“प्रत्यक्ष इतना ही है कि उस दिन अभय रात के चौथे पहर तक मेरे ही यहाँ रहा और उसके बिचार शांति ही शुद्ध हो चुके थे । सुप्रतीत के प्रति उसमें क्रोध का नाम नहीं रह गया था ।”

भिक्षुओं में से—“प्रत्यक्ष के लिए इतना कहना ही पर्याप्त है ।”

सुदर्शना—“अनुमान में केवल इतना ही कहना है कि यदि सुप्रतीत की हत्या का गुप्त संकल्प अभय के मन में होता तो वह सुप्रतीत के लिए मेरे कहे हुए सन्देश को सुन कर यह न कहता कि मैं सुप्रतीत के मन-मन्दिर में बसनेवाली प्रेम की देवी हूँ और अभय के नेत्रों में आनन्द को प्रत्यक्ष करने वाली साक्षात् सुदर्शना हूँ । इसी से मेरा अनुमान है कि वह सुप्रतीत की हत्या नहीं कर सकता ।”

भिक्षुओं में से—“अनुमान भी स्पष्ट है । न्याय के लिए इससे अधिक और क्या चाहिए ।”

सुदर्शना—“आत्मागम में इतना कह कर अपना वक्तव्य समाप्त कर दूँगी । “जब अभय अपने कलंक को अपना

सौभाग्य समझने को प्रस्तुत हो गया और अपनी ही इच्छा से; तब वह फिर क्यों ऐसा कार्य करेगा ? उसे तो समस्त पाटलिपुत्र की रक्षा का विचार मेरे रोकने के लिए बाध्य कर रहा था । वह कहता है — ‘मैं अपने कलंक को अपना सौभाग्य ही समझूँगा किन्तु यह नहीं चाहूँगा कि तुम यहाँ से प्रस्थान कर जाओ । सुदर्शने ! तुम्हारी आह से पाटलिपुत्र का सर्वनाश हो जायगा । पाटलिपुत्र की जनता निरपराध है । अपराधी यदि कोई है तो मैं हूँ । मेरे कारण तुम पाटलिपुत्र का त्याग मत करो । फिर से विचार कर लो ।’

भिक्षुओं में से — “आत्मागम जिसे हम शब्द प्रमाण भी कह सकते हैं उसमें यदि ऐसा कहा जायगा तो निस्सन्देह सफलता अपने अनुकूल होगी । किन्तु वैरूप्य में यदि आप कुछ न कहेंगी तो कदाचित् न्यायाधीश आपके वक्तव्य को संदिग्ध घोषित कर दे ।”

सुदर्शना — “वैरूप्य ही तो इस समय अभियोग की प्रतिज्ञा का हेतु बना हुआ है ।”

भिक्षुओं में से — “ऐसी दशा में आपके वक्तव्य का सारांश भी इसी प्रकार होगा ऐसा समझ लेना चाहिए । न्यायाधीश यदि अभ्रान्त न हुआ तो वह प्रतिकूल न्याय कर बैठेगा ।”

सुदर्शना — “न्यायाधीश से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । सम्बन्ध है तो बस अपनी प्रतिज्ञा से । उसे सिद्ध कर देना और अपने धर्म-मार्ग पर अटल रहना यही मेरा उद्देश्य है ।”

इतने में सुदर्शना के साथी भिक्षुओं ने देखा कि कोई एक

व्यक्ति समीप ही वृक्ष की छात्रा में हाथ जोड़े खड़ा हुआ है। कब से खड़ा है यह कोई नहीं बता सकता। सुदर्शना की बात समाप्त होते ही उसने उसी स्थान से कहा, “देवि ! बुद्ध भगवान की तपस्या का प्रताप तुम्हारे गौरव का विस्तार दिन दिन करेगा। तुम्हारी सत्य-प्रतिज्ञा मेरे जीवन की रक्षा कर सकेगी। मैं तुम्हारी निन्दा करने वाला अभय हूँ, किन्तु तुमने जिस ढंग से सत्य-धर्म को अहिंसा-व्रत के साथ अपनाया है वह ढंग प्रत्येक युग में प्रत्येक पुरुष को सर्वोच्च स्थान प्राप्त कराने में सहायक होगा। मैं तुम्हारे चरणों को स्पर्श करने के योग्य भी नहीं रह गया; फिर भी तुमने बिना मेरे अनुरोध किये हुए मुझ पर देवियों के समान बिना भेद भाव के जो कृपा की है, उसके लिए वाणी स्थान स्थान पर तुम्हारा गुण गान अवश्य करेगी। सुदर्शने ! तुम यथार्थ में सुदर्शना थी, सुदर्शना हो और सुदर्शना रहोगी। तुम्हारा सुदर्शन ही मोक्ष का कारण बन जायगा।”

इस प्रकार कहता हुआ अभय वहीं से ही प्रणाम करके अपने स्थान को लौट आया। मार्ग में सुदेव और सुदत्त मिल गये। दोनों ही अभय को और अभय उनको परस्पर जानते थे। सुदेव ने अभय से कहा, “बिना व्याकरण के तुम्हारा मुख विधवा के ललाट के समान है।”

सुदत्त ने कहा, “जिसका ललाट कभी सधवा हुआ ही नहीं, उसका मुख किसके समान है ? यदि तुम अपने को कुछ समझते हो तो मेरे प्रश्न का उत्तर दो।”

इतना कह कर सुदत्त ने अभय से कहा, “मैं तुम्हारे साथ हूँ। आज विजय का उत्सव तुम्हारे निवास स्थान पर मनाया जायगा। कल के बाद तो तुम परलोक की यात्रा कर ही जाओगे। क्योंकि अभियोग का संयोग ऐसा ही आ पहुँचा है। योगायोग का कुयोग हमारे तुम्हारे लिए वियोग का कारण बन रहा है।”

अभय ने कहा, “सुदेव का मुख तुम्हारे प्रश्न के उत्तर का बोझ लिये थका जा रहा है। शीघ्रता के साथ अपने प्रश्न का उत्तर ग्रहण कर लो जिससे कि वह स्वस्थ हो सके।”

अभय की इन बातों को सुनकर सुदेव ने कहा, “जिसने न सधवा देखा और न जिसने विधवा देखा, जब देखा तब केवल गर्दभ पृष्ठ पर धव का समूह देखा; उसके निमित्त मेरा उत्तर इतना ही है कि वह अपने मुख को किसी के आदर्श में जाकर देख ले। धव कहते हैं वस्त्र को। जो स्त्री वस्त्र धारण किये रहती है वह सधवा है और जो स्त्री वस्त्रों का परित्याग कर देती है वह विधवा है। जो न सधवा है और न विधवा है वही तो सुदर्शना होती है। अभय आज वहीं से धन्य हुए चले आ रहे हैं। देखते नहीं हो कि इनका चित्त कितना प्रसन्न है।”

अभय ने कहा, “विश्वाकरण का पंचामृत बनाने के लिए पतंजलि से उपाय सीख आये हो। चाहे सधवा को विधवा कहो अथवा विधवा को सधवा कहो, पति को चाहे वस्त्र कहो अथवा वस्त्र को पति कहो—सब तुम्हारे मुखारविन्द की शोभा बढ़ायेंगे। पतंजलि का अर्थ क्या हो सकता है उसे भी विश्वाकरण से

समझ कर सिद्ध कर लो, बड़ा सुयश होगा ।”

सुदत्त ने अभय का साथ देते हुए कहा, “पतंजलि के उपदेशों का प्रभाव इन पर ऐसा जम गया है, जैसा मेघों का समूह हिमालय की चोटी में हिम बनकर जम जाता है । पाटलिपुत्र में यदि कोई व्याकरण की पाठशाला का आयोजन होगा, तो यही उसके प्रथम आचार्य होंगे ।”

सुदेव ने उसी प्रकार भावों को प्रदर्शित करते हुए कहा, “और उस पाठशाला का जो प्रथम विद्यार्थी होगा उसका नाम होगा सुदत्त । द्वितीय विद्यार्थी का नाम होगा ‘अभय’ ।”

अभय ने कहा, “तुम अपने पतंजलि से इस प्रश्न का उत्तर पूछना कि मित्र शब्द का प्रयोग पुल्लिङ्ग में सूर्य के लिए क्यों और साथी के लिए नपुंसक लिङ्ग में क्यों किया जाता है ?”

सुदत्त ने अभय को उत्साहित करते हुए कहा, “इस प्रकार के प्रश्न और भी प्रस्तुत कर लो ।”

सुदत्त ने कहा, “मित्र मित्र के लिए नपुंसकता को धारण किये रहते हैं इसीलिए संस्कृत भाषी-समाज ने उनके इस लक्षण को अमर बनाने के लिए मित्र के अर्थ में मित्र शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में आरम्भ कर दिया और जो शक्ति संसार के हित में मित्र बनकर अपने प्रताप को प्रदर्शित करती है, उस शक्तिसम्पन्न मित्र को सूर्य के रूप में स्वीकार कर लिया । तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारी मूर्खता का ही परिचायक है । अच्छा तो यह हुआ कि तुमने इस प्रश्न को पतंजलि से जाकर नहीं पूछा । यदि जाकर पूछते तो वे यही समझते कि धर्ममहामात्र धर्मदर्शी

के सेवक मूर्ख और धूर्त हैं। विद्वान् मूर्ख को समझ लेते हैं।”

अभय ने कहा, “जिस प्रकार विद्वान् मूर्ख को समझ लेते हैं उसी प्रकार मूर्ख भी विद्वान् को समझ लेते हैं। तुमने जितनी शीघ्रता से पतंजलि को समझा है वह तुम्हारे लिए केवल मूर्खता का ही परिचय देगी। विद्वान् है हम लोग जो आज तक पतंजलि की प्रशंसा नहीं करते।”

सुदत्त ने सुदेव से कहा, “अभयाचार्य का भीषण भाषण पतंजलि के सामने होना चाहिये।”

सुदेव ने कहा, “तभी उनको विदित होगा कि पाटलिपुत्र में रासभवंश अब भी वर्तमान है। बस अभाव है तो एक बात का। वह यह है कि इनके लिए क्षेत्र नहीं रह गया है।”

— — —

२०

बन्दीगृह के भीतर जयसेन बंद था और सशस्त्र प्रहरी सावधान होकर अपने कर्त्तव्य-पालन में सचेष्ट थे। अर्द्धरात्रि के समाप्त होते ही सहसा एक सुन्दरी स्त्री का वहाँ पर आगमन हुआ। उसको देखते ही प्रहरियों का समुदाय अपने अपने शस्त्रों को सन्हालने लगा। जैसे ही वह सुन्दरी उनके समीप आई वैसे ही प्रहरियों में से एक ने उससे पूछा, “तुम कौन हो?”

उस स्त्री ने कुछ भी उत्तर न दिया और बन्दीगृह के द्वार की ओर अग्रसर होती चली गई। प्रहरियों में से एक ने साहस

करते हुए उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, “तुम उधर क्यों जा रही हो ? जानती नहीं हो कि राजद्रोही जयसेन यहीं पर बन्द हैं ?”

अपने हाथ को छुड़ाती हुई उस स्त्री ने कहा, “मैं तो अब कहीं की भी न रही । तुमने तो मेरा हाथ पकड़ लिया है । पाणि-ग्रहण इसी का नाम है । बोलो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? उचित तो यही होगा कि तुम अपने घर तक मुझे पहुँचा आओ । मेरा धर्म अब तो तुम्हारे ही हाथ है । यदि तुम मेरे धर्म की रक्षा नहीं कर सकते थे, तो फिर मेरे हाथ को क्यों पकड़ा ? मौर्यराज वृहद्रथ की शपथ है । यदि तुम राजद्रोही न होगे तो अपने राजा के नाम पर कलङ्क नहीं लगाओगे और मुझे अपनी पत्नी बनाकर मेरे धर्म की नौका को पार लगा दोगे । पुरुष का कार्य है कि वह धर्म की नौका को डूबने से बचाता रहे ।”

उस प्रहरी के साथियों ने उस सुन्दरी की प्रशंसा करते हुए अपने साथी से कहा, “ऐसी सुन्दरी स्त्री भाग्य से ही मिलती है । इतनी रात्रि में आने वाली यह सुन्दरी साक्षात् लक्ष्मी है । इसका तिरस्कार करना अपने भाग्य को ठुकराना है । इस लिए यह जैसा कहती है तुम्हें वैसा ही करना चाहिए । हाथ तो तुमने पकड़ा ही है, अब हाथ पकड़ने का मधुर परिणाम भी भोग लो । पत्नी भी मिली तो एक देवी । जाओ इसे घर तक पहुँचा आओ ।”

अपने साथियों की बातों को सुनकर वह प्रहरी उस स्त्री

को लेकर अपने घर की ओर चल पड़ा। चलते चलते एक स्थान पर वह सुन्दरी रुक गई। वहीं एक पीपल का वृक्ष था। उस वृक्ष की ओर संकेत करते हुए उसने कहा, “वह देखो, मेरा सामान उस डाली पर भूल रहा है। उसमें एक सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ भी हैं। उसे ले आओ तो मैं आगे चलूँ।”

पीपल के वृक्ष से भूलते हुए सामान को उतार कर लाने के लिए जैसे ही वह प्रहरी वृक्ष पर चढ़ा वैसे ही उसके पीछे पीछे वह सुन्दरी स्त्री भी चढ़ गई। जब उस सामान तक वह प्रहरी पहुँच गया तब उस स्त्री ने धक्का देकर उसे वहाँ से गिरा दिया। उतने ऊँचे से गिरते ही वह प्रहरी मृत्यु को प्राप्त हो गया। वह स्त्री तुरन्त उतर आई और उसके मृत शरीर को उसी स्थान पर उसी दशा में छोड़ कर फिर बन्दीगृह के समीप आ गई।

प्रहरियों में से एक ने पूछा, “देवि ! आपका पुनरागमन किस हेतु हुआ है ?”

उस सुन्दरी स्त्री ने धीमे स्वर से लजाते हुए कहा, “वे अब नहीं आयेंगे। आप दूसरे को उनके स्थान पर नियुक्त कर लें। राज्य का कार्य सुचारु रूप से होना चाहिए।”

उसने उस सुन्दरी स्त्री से कहा, “जिसको आप जैसी सुन्दरी स्त्री सरलता से प्राप्त हो जाय उसके लिए त्रिलोक का राज्य तुच्छ है। जिसे आपने अपनाया है निस्संदेह वह भाग्य-शाली है। आप निश्चिन्त होकर उसके यहाँ रहें और हम लोग यहाँ पर खड़े खड़े अपने भाग्य को रोते रहें। हम आपको देख कर ही प्रसन्न हैं।”

“यदि आप चाहें तो मेरे साथ चलें। आपको भी मैं भाग्य-शाली बना सकती हूँ। मेरी एक सहोदरा है। वह मुझ से भी अधिक सुन्दरी है। चलना हो तो आप चलें।”

उस प्रहरी ने कहा, “यदि मैं आपके साथ चलूँगा तो यहाँ पर कौन रहेगा ? हम सात प्रहरी थे उनमें से एक तो चला ही गया। रह गये छः। दो पड़े सो रहे हैं। चार पहर पर हैं। यदि मैं गया तो तीन ही रह जायँगे। ऐसी दशा में मेरा जाना नहीं हो सकेगा।”

उस प्रहरी की इन बातों को सुनकर उस स्त्री ने कहा, “अकेला जयसेन। उसके पास न तो कोई अस्त्र है और न कोई शस्त्र ! बन्दी की दशा में बंद हैं। यदि तान प्रहरी रहे जाते हैं तो भय किस बात का है ? मौर्यराज्य के शासन का परिणाम तो यही हुआ है कि सभी अहिंसावादी भिन्न हो गये हैं। मैं राजलक्ष्मी इधर उधर ठोकर खा रही हूँ। किसके पास जाऊँ; यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। सेनापति पुष्यमित्र तो बड़ा ही कठोर है। उसके पास जाना ही व्यर्थ है। इस समय आप से मैं अधिक प्रसन्न हूँ। मेरा यह स्वभाव है कि जिसे अपने कर्म और धर्म का ज्ञान रहता है, मैं उसी के यहाँ रहना अधिक रुचिकर समझने लगती हूँ।”

उस सुन्दरी की इन बातों को सुनकर वह प्रहरी अपने कर्तव्य से च्युत होने लगा। उसने कहा, “मैं जिस स्थान पर रहता हूँ वह यहाँ से अधिक दूर है। आप थक जायँगी।”

“यह आपकी धारणा यथार्थ नहीं है। जब आप नहीं थकेंगे तब मैं कैसे थकूँगी ?”

“अच्छी बात है, तो फिर मैं चलने के लिए तैयार हूँ।”

“आप किस ओर ले चलना चाहते हैं ? जिधर कहें उधर ही चलूँ।”

“आप जिधर चलेंगे मैं भी उधर ही चलूँगा। आनन्द तो आपके साथ में है।”

“आपको इस प्रिय सम्भाषण के लिए मैं हार्दिक धन्यवाद देती हूँ।”

“आपको इस क्षमाशीलता के लिए मैं अपना तन और मन समर्पण किये देता हूँ।”

“आपका समर्पण मुझे सहर्ष स्वीकार है। आइए मेरे साथ और.....”

कहते कहते वह सुन्दरी रुक गई। उस प्रहरी ने कहा, “आप चलें तो मैं चलूँ।”

वह सुन्दरी चल पड़ी। चलते चलते वह एक कुँए के पास आकर बैठ गई और कहने लगी, “मुझे तृष्णा व्याकुल बना रही है। यदि कुँए से खींच कर जल पिला दें, तो बड़ी कृपा होगी।”

वह प्रहरी कुँए से जल खींचने के लिए प्रस्तुत हो गया। जैसे ही वह कुँए की जगत के ऊपर जाकर खड़ा हुआ वैसे ही एक धक्का मार कर उस स्त्री ने उसे कुँए में धकेल दिया। कुँए के नीचे पहुँचते ही वह भी राम नाम सत्य कर गया। इसके बाद

वह सुन्दरी स्त्री फिर बन्दीगृह के समीप आई। उसे आई देख कर शेष तीन प्रहरियों में से एक ने कहा, “आप किस प्रकार लौट आईं ? आपके साथ गये हुए हमारे साथी कहाँ पर हैं ?”

“अपना अपना काम करके वे सब अभी आते होंगे। आप चिन्ता न करें। मैं तो इसलिए आई हूँ कि उन्होंने बन्दीगृह की रक्षा के लिए कोई नया उपाय सोचा है। आपको समझाने के लिए उन्होंने आपके पास मुझे भेज दिया है। यदि आप समझ गये हों तो अच्छा ही है। यदि न समझ में आया हो तो पत्र दे दीजिए; मैं उनसे जाकर सब कह दूँगी। अच्छा हो यही होगा कि आप अपने काम में तत्पर रहें जिससे कि उत्तर-दायित्व में कलंक न लगे।”

“जयसेन बड़ा सीधा पुरुष है। उससे मुझे कुछ भी भय नहीं है। भय यदि है तो राजकर्मचारियों से; क्योंकि उनसे तर्क करने का साहस मुझ में नहीं है। यदि आप किसी बात का संकोच न करें तो बन्दीगृह की रक्षा का उपाय समझा दें जिससे कि काम में त्रुटि न होने पाये।”

उस सुन्दरी स्त्री ने कहा, “मेरे रहते हुए त्रुटि नहीं होने पायगी।”

उस प्रहरी ने कहा, “मुझे तो आपसे ऐसी ही आशा रहेगी। अब आप उपाय समझा दें।”

उस सुन्दरी स्त्री ने कहा, “यदि आप उपाय समझना चाहते हैं तो मेरे लिए कहीं से थोड़े से पुष्प ले आइए। मैं पाटलिपुत्र के मौर्य-वंश की राजलक्ष्मी हूँ। पुष्प मुझे अधिक प्रिय हैं। आप

जितने पुष्प लायेंगे मैं उतने ही स्वर्ण-मुद्रा आपको पारितोषिक के रूप में अर्पण कर दूँगी। जब तक आप नहीं लौटेंगे तब तक मैं आपके स्थान पर आपका कार्य करूँगी।”

उस स्त्री की सुन्दरता से वह प्रहरी प्रथम ही मुग्ध हो चुका था। जब उसने अपने को राजलक्ष्मी बतलाया तब वह उसके चरणों में नतमस्तक हो गया और हाथ जोड़ कर बोला, “आप की आज्ञा का पालन करने को मैं प्रस्तुत हूँ। दो प्रहरी सो रहे हैं, दो पहरा दे रहे हैं, वे भी इस समय बन्दी गृह के पीछे सो रहे हैं। आप उनको तब बुलाइएगा जब किसी बात की विशेष आशंका हो। मैं यथाशीघ्र समीप के उद्यान से पुष्पों को लिए आ रहा हूँ।”

इस प्रकार कह कर वह प्रहरी चला गया। उसके जाते ही उस स्त्री ने बन्दीगृह के द्वार को मुक्त कर दिया और उसके भीतर प्रवेश कर गई। जयसेन उस समय तन्द्रालु हो रहा था। सहसा एक स्त्री को अपने समीप आते देखकर वह स्तंभित हो गया। उसने अनुमान किया मानो उसके लिए मृत्यु उसी समय आ गई हो। वह अपने स्थान पर सावधानी के साथ बैठा रहा। उस सुन्दरी स्त्री ने जयसेन के समीप जाकर कहा, “सेनापति पुष्यमित्र की आज्ञा है कि तुम यहाँ से मुक्त किये जाओ। इसीलिए मैं तुम्हारे पास उपस्थित हुई हूँ।”

जयसेन ने उस स्त्री को पहचान लिया और कहा, “प्रहरी सो रहे हैं या जाग रहे हैं?”

“मार्ग खुला है। विलम्ब की आवश्यकता नहीं है। यहाँ से

निकल चलो ।”

“जैसी आज्ञा हो ।” कहता हुआ जयसेन बन्दीगृह से निकल पड़ा । उसके निकलते ही जिस प्रकार द्वार बन्द था । उसी प्रकार फिर द्वार बन्द कर दिया गया ।

जब जयसेन बाहर निकल आया तब उस स्त्री ने समझाते हुए कहा, “सेनापति पुष्यमित्र के समीप जाना । कहना कि मौर्यवंश की राजलक्ष्मी ने पूरी सहायता की है ।”

“यदि मैं राजलक्ष्मी का नाम न लूँ और जिस नाम से जानता हूँ वही नाम लूँ तो ?”

“इस समय मैं राजलक्ष्मी के रूप में कर्तव्य का पालन कर रही हूँ इसलिए इसी नाम का महत्व देना है । मार्ग में यदि कोई तुमसे तुम्हारा नाम पूछे तो अपना नाम प्रत्यंकर बतलाना । सेनापति का यह भी एक आदेश है । जाओ, सेनापति प्रतीक्षा कर रहे होंगे ।”

जयसेन वहाँ से चला गया । उसके जाने के थोड़ी देर बाद पुष्पों के लिए गया हुआ प्रहरी लौट आया । उसने कहा, “बड़ी कठिनाई से सात पुष्प मिले हैं । एक तो रात्रि का समय है, दूसरे शीघ्र अपने स्थान पर आने की चिन्ता थी, इसी से इतने ही पुष्प लेकर चला आया हूँ । चाहे कुछ भी हो, ये पुष्प पाटलि-पुत्र में कम दिखते हैं ।”

उस स्त्री ने सातों पुष्पों को ले लिया और कहा, “बन्दीगृह और उसके आस पास एक बार चक्कर काट कर देख आइए जिससे कि आपको बिदित हो जाय कि मैंने किस प्रकार आप

की सहायता की है। लीजिए ये सात स्वर्ण मुद्राएँ। मैं कल रात्रि में इसी प्रकार फिर आऊँगी। जयसेन राजद्रोही है। मैं राजलक्ष्मी होने के कारण चाहती हूँ कि उसका वध मेरे ही हाथों से हो। दुष्ट चाहता है कि मौर्यवंश की राजलक्ष्मी नष्ट कर दी जाय। जो राजद्रोही होते हैं वे राजलक्ष्मी के भी द्रोही होते हैं। राजा उन्हें दण्ड देता है। राजलक्ष्मी उससे भी कठोर दण्ड देना चाहती है। जाइए, आप बन्दीगृह का निरीक्षण कर आइए। राजद्रोही बन्दी का स्वभाव निकल भागने का होता है।”

उस स्त्री की बात मान कर वह प्रहरी बन्दीगृह का निरीक्षण करने को चला गया और शीघ्र लौट आकर बोला, “आपकी दया से सब ठीक है।”

— — —

२१

धीरे धीरे एक वर्ष का समय बीत गया। अनुसंधान करने वाले थक गये किन्तु इस बात का पता न चला कि जयसेन किसकी सहायता से निकल भागा और किस स्थान पर क्या कर रहा है? दो विचार के जन-समुदाय उत्पन्न हो गये। एक का विचार था कि मौर्यराज वृहद्रथ की आज्ञा से निर्जन स्थान में जयसेन को समाप्त करा दिया गया है। दूसरे का विचार यह था कि सेनापति पुष्यमित्र ने कोई ऐसी कार्यवाही की होगी जिससे भाग निकलने में जयसेन को सहायता प्राप्त हुई है।

सारांशा यह कि एक पक्ष वृहद्रथ को जयसेन का घातक कह रहा था और दूसरा पक्ष सेनापति पुष्यमित्र को जयसेन का सहायक कह रहा था। परिणाम यह हुआ कि यह सब संवाद क्रमशः मौर्यराज वृहद्रथ और सेनापति पुष्यमित्र के कानों तक पहुँच गया था। वृहद्रथ को घातक बताने वाला पक्ष सेनापति का और सेनापति को सहायक बताने वाला पक्ष वृहद्रथ का प्रियपात्र बन गया था।

मौर्यराज वृहद्रथ के प्रियपात्र बनने वालों के भोजन तथा मनोरंजन का प्रबंध राजा की ओर से नित्य होने लगा था। परिणाम यह हुआ कि नियमानुसार राजा का जो वेतन मिलता था वह समाप्त हो गया। प्रधान मंत्री ने अवसर पाकर मौर्यराज वृहद्रथ से निवेदन किया, “पृथ्वीपते ! नियमानुसार श्रीमान् के लिए जो वेतन निश्चित है वह समाप्त हो चुका—ऐसा कोषाध्यक्ष का कथन है।”

मौर्यराज वृहद्रथ ने प्रधान मंत्री से कहा, “मैं इस प्रकार के नियमों का पालन करने को प्रस्तुत नहीं हूँ ? तुम और तुम जैसे जितने राजकर्मचारी हैं उनके लिए ही नियमों का विधान है। विधान के अनुकूल वेतन ग्रहण करना तुम सबों का धर्म है किन्तु जिसे तुम लोग पृथ्वीपति कहते हो अथवा पृथ्वीपति बनकर जो तुम सबों पर शासन कर रहा है वह कदापि नियमों के बंधन से नहीं बाँधा जा सकता। राज्य की रक्षा के लिए राजा की इच्छाएँ ही सब कुछ हैं। वेतन कर्मचारी पाते हैं न कि सर्वशक्तिमान राजा पाता है ?”

प्रधान मंत्री ने हाथ जोड़ कर निवेदन किया, “जिस नर-रत्न को हम लोग पृथ्वीपति कहते हैं अथवा पृथ्वीपति बन कर जो नर-रत्न हम सबों पर शासन कर रहा है उसे राज्य-नियमों की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। राज्य की रक्षा के लिए राजा की इच्छाएँ ही सब कुछ हैं किन्तु उस दशा में जब कि राजा की इच्छाओं के साथ मुख्य मुख्य राज्याधिकारियों तथा प्रजा की इच्छाओं का योग हो चुका हो ! राजा की जिन इच्छाओं से प्रधान मंत्री, धर्ममहामात्र, प्राङ्ग्विवाक, सेनापति तथा प्रजा की इच्छाएँ भिन्न हैं वे इच्छाएँ राज्य-रक्षा में सफल नहीं हो सकतीं। यदि राजा अपने को सर्वशक्तिमान समझता है तो मुख्य मुख्य राज्याधिकारियों से उसका मतभेद नहीं होना चाहिए। अब प्रश्न रहा वेतन का ? मौर्यराजवंश के इतिहास में श्रीमान का एक यही वाक्य श्रीमान के दुर्वलप्रतिज्ञ होने का प्रमाण रहेगा। दुर्वलप्रतिज्ञ होना श्रीमान के लिए कलंक है और यही कलंक आपके लिए अनिष्टकर हो सकता है। अतएव श्रीमान उस मार्ग पर न चलें जो श्रीमान को दुर्वलप्रतिज्ञ बनाने का कारण हो रहा हो।”

मौर्यराज बृहद्रथ ने क्रोध करते हुए कहा, “कौन सा नियम राजा का वेतन निर्धारित करता है ?”

प्रधान मंत्री ने कौटिल्य अर्थशास्त्र को मौर्यराज बृहद्रथ के सम्मुख रख कर कहा, “इस ग्रन्थ की रचना उस महापुरुष ने की है जिसके चरणों की धूलि से मौर्यवंश राजवंश की श्रेणी में आया है। नन्दवंश का नाश जिसकी अटल प्रतिज्ञा के कारण

हुआ, वही इस ग्रन्थ का ज्ञाता है। उसका नाम है विष्णुगुप्त चाणक्य। यदि चाणक्य चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के राज-सिंहासन पर न बैठाता तो आज श्रीमान को इस प्रकार नियमों के जाल में न फँसना पड़ता। मौर्यराजवंश का यह ग्रन्थ माननीय ग्रन्थ है। सभी राजाओं ने इसी के नियमों का पालन किया है। यदि यह कहा जाय कि कौटिल्य अर्थशास्त्र की शासन-प्रणाली ही चल रही है तो अनुचित न होगा। हम तथा अन्य राजकर्मचारी जिस प्रकार इस ग्रन्थ के नियमों का पालन कर रहे हैं उसी प्रकार श्रीमान को भी पालन करना चाहिए जिससे की व्यवस्था की मर्यादा नष्ट न हो।”

कौटिल्य अर्थशास्त्र की प्रति को साधारण सूचीपत्र की भाँति धरती पर फेंकते हुए मौर्यराज बृहद्रथ ने झुँझलाकर कहा, “मूर्खों के लिए ये सब सूचीपत्र हैं। राज्य और राजा दो नहीं हैं।”

प्रधान मंत्री—“राज्य और राजा दो नहीं हैं—इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता।”

बृहद्रथ—“किन्तु खेद तो इसी बात का है कि तुम मुझे अप-दस्थ करने पर तुले रहते हो।”

प्रधानमंत्री—“परमेश्वर ने श्रीमान को स्वामी रूप से प्रजा का दास बनाया है। इसीलिए प्रजा का पालन करने के कारण प्रजा के दिये हुए कर से श्रीमान को वेतन मिलता है। प्रधान मंत्री के रूप में जितना मैं पाता हूँ, धर्ममहामात्र के रूप में जितना धर्मदर्शी पाते हैं, सेनापति के रूप में जितना वेतन पुण्यमित्र पाते हैं—वह सब मिलाकर जितना होता है उसका

तिगुना श्रीमान् पाते हैं। श्रीमान को जब से राजसिंहासन प्राप्त हुआ है तब से लेकर आजतक छः वर्ष व्यतीत हो गये। यह सातवां वर्ष है। यह वर्ष अभी पूरा नहीं हो पाया कि सब बेतन शेष हो गया। छः वर्ष तक इस प्रकार कभी नहीं हुआ। जब से सेनापति का विरोधी दल श्रीमान के समीप आने-जाने लगा तभी से ऐसा हुआ। अब आप जैसी आज्ञा दें। प्रधान मंत्री के पद से मुझे जितना निवेदन करना चाहिए था उतना निवेदन मैं कर चुका।”

बृहद्रथ ने प्रधान मंत्री से कहा, “वर्ष के समाप्त होने में तीन महीने और रह गये हैं। वर्ष में मुझे मिलते हैं एक लाख चालीस हजार पण*। महीने के लिए चाहिए बारह हजार पण। व्यय बढ़ जाने से चाहिए सोलह हजार पण। तीन महीने के लिए चाहिए अड़तालीस हजार पण।”

प्रधान मंत्री ने साधारण ढंग से कहा, “श्रीमान् का यह गणित सर्वाङ्ग अभ्रान्त है।”

बृहद्रथ ने प्रधान मंत्री को समझाते हुए कहा, “यदि आगामी वर्ष के व्यय से अड़तालीस हजार पण बचा लिये जाय तो इस वर्ष की कमी पूरी हो सकती है। इसलिए इसका उपाय सोचना चाहिए।”

प्रधान मन्त्री ने कहा, “श्रीमान जैसा आदेश करेंगे उसक उचित रूप से पालन किया जायगा।”

बृहद्रथ—हमारे वंश के प्रतापी सम्राट् अशोक की छत्रछाय

*पण—रुपये

में मगध-साम्राज्य हिन्दूकुश पर्वत से तामिल राज्यों की सीमा तक विस्तृत था । क्या मेरा यह कथन सत्य नहीं है ?”

प्रधान मन्त्री—“श्रीमान का यह कथन प्रामाणिक तथा सत्य दोनों ही है ।”

बृहद्रथ—तत्कालीन विदेश के राष्ट्रों से मगध साम्राज्य का मित्रतापूर्ण घनिष्ठ संबंध था ऐसा मैं सुना करता हूँ । क्या इसमें तुम्हें किसी बात का सन्देह है ?”

प्रधान मंत्री—“जैसा श्रीमान सुना करते हैं वैसा ही मैं भी सुना करता हूँ अतः संदेह कुछ भी नहीं है ।”

बृहद्रथ—“सम्राट् अशोक की मृत्यु होते ही मगध का विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न होने लगा । एक एक करके इस साम्राज्य के प्रदेश स्वाधीन होने लगे । दक्षिण में आन्ध्रदेश और महानदी तथा गोदावरी के मध्य का कलिंग देश दोनों ही शीघ्र मौर्य-साम्राज्य से पृथक् हो गये ।”

प्रधान मंत्री—“श्रीमान् का यह सिंहावलोकन वास्तविकता से शून्य नहीं है ।”

बृहद्रथ—“सम्राट् अशोक के बाद पश्चिमोत्तर प्रदेशों में यवनों के निरन्तर आक्रमणों से मौर्य-साम्राज्य की शक्ति प्रथम से ही शिथिल हो चुकी है । अनेक प्राचीन गणराज्य फिर से स्वतंत्र हो गये हैं । मेरे पूर्व के मौर्यराज तथा सम्राट् अशोक के बाद के मौर्यराज अर्थात् सम्राट् अशोक और मेरे मध्यकाल के जितने भी मौर्य शासक हुए, सभी पतनोन्मुख साम्राज्य की रक्षा न कर सके । क्या उनमें योग्यता न थी अथवा उनके

समय में भी सेनापति पुष्यमित्र के समान कोई राजद्रोही था ?”

कुछ समय तक सोचने के बाद प्रधानमंत्री ने कहा, “जिस नीति को लेकर सम्राट् अशोक ने मगध-साम्राज्य को उन्नति के शिखर तक पहुँचाया था उस नीति के किसी भी अंग को उसके बाद के और श्रीमान के पूर्व के मौर्य-राजगण पुष्ट न कर सके। वे सीमान्त देशों की भी रक्षा न कर सके। उनकी दुर्बलता के कारण मौर्य-साम्राज्य का संगठन शिथिल पड़ गया।”

बृहद्रथ—“क्या उनके पास सेनां न थी अथवा विद्रोही सेनापति को वे दबा न सके? मेरी समझ में यह नहीं आ रहा है कि जब सब प्रकार का बल परिपूर्ण था तब यह दशा क्यों हुई?”

प्रधान मंत्री—“अतीत को समझ कर श्रीमान क्या करेंगे? भविष्य के लिए वर्तमान को समझना अच्छा है।”

बृहद्रथ—“अतीत को यदि समझना चाहता हूँ तो इसमें हानि क्या है?”

प्रधान मंत्री—“यदि श्रीमान् उचित समझते हैं तो मुझे किसी बात की आपत्ति नहीं है।”

बृहद्रथ—“मगध-साम्राज्य का ऐसा पतन क्यों हुआ? क्या तुम समझा सकते हो?”

प्रधान मंत्री—“श्रीमान् के पूर्वाधिकारियों में से कोई भी सम्राट् अशोक की नीति को नहीं अपना सके ऐसा मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ। सम्राट् अशोक भारत के धार्मिक सम्प्रदायों के प्रति बड़ी ही अनुकरणीय सहिष्णुता, समदर्शिता

और उदारता से व्यवहार करते थे। ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध सभी उनके कृपापात्र थे। परंतु उनके उत्तराधिकारी तथा श्रीमान के पूर्वाधिकारी दशरथ, सम्प्रति आदि बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय पर विशेष पक्षपात करने लगे; जिससे भारत के सम्प्रदायों में परस्पर धार्मिक विद्वेष बढ़ा। श्रीमान के पूर्वाधिकारी परस्पर गृह-युद्ध की सृष्टि करने लगे, परिणाम यह हुआ कि मौर्यराज की शक्ति और भी शिथिल हो गई। श्रीमान के एक पूर्वाधिकारी जलौक ने काश्मीर में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया और कान्यकुब्ज प्रान्त तक का देश अपने शासन में कर लिया। सारांश इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि सम्राट् अशोक की नीति की उपेक्षा, श्रीमान के पूर्वाधिकारियों का पारस्परिक कलह तथा ब्राह्मण-धर्म तथा बौद्ध-धर्म का आन्तरिक विद्वेष मौर्य-साम्राज्य के पतन का कारण है।”

प्रधान मंत्री की इन सब बातों को सुनकर मौर्यराज बृहद्रथ ने उससे प्रश्न किया, “ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म—इन दोनों धर्मों में तुम किस को अच्छा समझते हो?”

प्रधान मंत्री—“मैं न तो ब्राह्मण धर्म मानता हूँ और न बौद्ध धर्म जानता हूँ। मेरा धर्म राजधर्म है। इस धर्म में अपने जीवन के दिन बिता रहा हूँ। यदि इस धर्म में न रह सका तो मानव धर्म को अपना लूँगा। जिस राजधर्म में मानव धर्म है और जिस मानव धर्म में राजधर्म है ऐसा धर्म ईश्वरीय धर्म है। ईश्वरीय धर्म को जो धर्म नहीं मानता वह धर्म के रूप में अधर्म को मानता है।”

बृहद्रथ ने आश्चर्य करते हुए कहा “बौद्ध धर्म का तो संबंध ईश्वर से है ही नहीं ।”

प्रधान मंत्री—“किन्तु मेरे धर्म में राजा रूपी ईश्वर नित्य दृष्टिगोचर होता है ।”

बृहद्रथ—“तो तुम मुझे ईश्वर के रूप में मानते हो अथवा ईश्वर के रूप में देखते हो ?”

प्रधान मंत्री—“मानने के समय मानता हूँ और देखने के समय देखता हूँ ।”

बृहद्रथ —“इसे इस प्रकार समझ लेना चाहिए कि आदेश को मानते हो और स्वरूप को देखते हो ।”

प्रधान मंत्री—“श्रीमान ने इस स्थल पर सद्बुद्धि का प्रयोग समुचित रूप से किया है ।”

बृहद्रथ—“तो फिर मेरा आदेश ईश्वरीय आदेश हुआ । यदि संदेह हो तो विचार बदल दो ।”

प्रधान-मंत्री -“बिना ऐसे विचार के राजभक्ति हो ही नहीं सकती अतः विचार अविचल है ।”

बृहद्रथ—“राजभक्ति का विचार यदि अविचल है तो ईश्वरीय आदेश का तुम कभी उल्लंघन नहीं करोगे, ऐसी मुझे आशा है । हम बौद्ध होने के कारण न तो आत्मा को मानते हैं और न परमात्मा को जानते हैं किन्तु इतना अवश्य स्वीकार करते हैं कि राजधर्म तथा मानव धर्म के लिए बौद्ध-धर्म का प्रकाश वांछनीय है । यदि तुम राजधर्म को बौद्ध धर्म नहीं स्वीकार करते तो तुम्हारी राजभक्ति संदेहपूर्ण ही रहेगी । मैं

अधिक परीक्षा लेना नहीं चाहता। आगामी वर्ष के व्यय में अड़तालीस हजार पण बचाना है। यदि तुम उचित समझो तो सेनापति के पद से पुष्यमित्र को न्युत कर दो। धार्मिक सुधार के युग में सेनापति की आवश्यकता ही क्या है ?”

प्रधान मंत्री—“मंत्रिपरिषद् से परामर्श करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है।”

बृहद्रथ—“मंत्रिपरिषद् से परामर्श करना व्यर्थ है। ‘आगामी वर्ष से सेनापति पुष्यमित्र की सेवाएँ मौर्यराज को स्वीकृत नहीं होंगी’—ऐसी सूचना उसके समीप भेज दो। एक सेनापति के जाने से बिगड़ता क्या है ? मैं स्वयं सेना को सम्हाल लूँगा। तुम निश्चिन्त रहो।”

— — —

२२

मौर्यराज बृहद्रथ के आदेश को सुनकर प्रधान मंत्री ने समझ लिया कि अब तर्क-वितर्क करना व्यर्थ है। धर्ममहामात्र धर्मदर्शी से परामर्श करके उचित कार्यवाही करनी चाहिए। ऐसा विचार कर वह धर्ममहामात्र के समीप जाने के लिए प्रस्थान कर गया।

जिस समय धर्ममहामात्र के भवन पर वह पहुँचा उस समय देखता है कि उसके कक्ष में सुनेत्रा का नृत्य हो रहा है। भवन के भीतर प्रवेश करते करते वह रुक गया। अचानक धर्ममहामात्र की दृष्टि उस पर पड़ गई। उसने संकेत करते

हुए प्रधान मंत्री को अपने पास बुला लिया ।

जैसे ही प्रधान मंत्री ने उसके पास जाकर आसन ग्रहण किया वैसे ही उसके आदेश से आनन्द-मंदाकिनी का पात्र सम्मुख रख दिया गया । उसे देख कर प्रधान मंत्री ने कहा, “जिसके हाथ में धर्म की नौका है वही इस आनन्द-मंदाकिनी के प्रवाह में मग्न हो सकता है ।”

यद्यपि धर्ममहामात्र ने विशेष रूप से आग्रह किया तथापि प्रधान मंत्री ने उसे ग्रहण नहीं किया । सुनेत्रा की ओर दृष्टिपात करत हुए उसने धर्ममहामात्र से प्रश्न किया, “मौर्यराज के प्रतिनिधि स्वरूप जब आप इस प्रकार नृत्यकला से प्रेम करेंगे तब साधारण कर्मचारी तो नृत्य कला को अपने मस्तक पर रख कर ही नृत्य करेंगे । मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपके यहाँ यह नर्तकी किस प्रकार आई ? आपके आमंत्रण से आई या राज्य के नियंत्रण से आई ?”

धर्ममहामात्र ने प्रधान मंत्री की बातों को सुनकर कहा, “मौर्यराज के प्रतिनिधि स्वरूप जब हम इस प्रकार नृत्यकला से प्रेम नहीं करेंगे तब साधारण कर्मचारी तो नृत्यकला के लिए तरसते ही रह जायेंगे । नृत्यकला को सुलभ कर देना ही हमारा मुख्य उद्देश्य है । आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि यह नर्तकी मेरे यहाँ अपनी इच्छा से ही आई है । मैं न तो किसी को आमंत्रित करता हूँ और न मौर्यराज्य का शासन किसी को नियंत्रित ही करता है । आप स्वयं विचार कर लें कि मेरे यहाँ आपका यह शुभागमन मेरे आमंत्रण से हुआ है या मौर्यराज्य

के नियंत्रण से हुआ है ! जिस प्रकार आपने कृपा की है उसी प्रकार इस नर्तकी ने भी कृपा की । न मैं आपका तिरस्कार कर सका और न इसका ही तिरस्कार कर सका । मौर्यराज के यहाँ धर्ममहामात्र का जो गौरवपूर्ण पद है उसकी मर्यादा की रक्षा तभी हो सकेगी जब कि मैं सब का स्वागत समान रूप से कर सकूँ । कोई मेरे द्वार से विमुख न जाय ।”

प्रधान मंत्री ने धर्ममहामात्र से प्रश्न किया, “इस प्रकार के नृत्य-कार्यों में आपका कितना मासिक व्यय होता है ? मेरा विचार है कि मासिक जितना व्यय होता हो उतनी ही वृद्धि आपके वेतन में करा दी जाय जिससे कि मौर्यराज्य में नृत्य-कला का प्रदर्शन सरलता से हो सके ।”

प्रसन्नता प्रकट करते हुए धर्ममहामात्र ने कहा, “यदि ऐसा हो जाय तो फिर क्या बात है ?”

प्रधान मंत्री ने धर्ममहामात्र का उत्साह बढ़ाते हुए कहा, “मौर्यराज बृहद्रथ के आदेश से ही मैं यहाँ पर इस प्रकार सहसा उपस्थित हुआ हूँ । आज जिस समय आगामी वर्ष के आय-व्यय पर विचार विनिमय हुआ उस समय उन्होंने मुझ से कहा कि ‘धर्ममहामात्र को जो वेतन दिया जाता है कदाचित् उनके काम को देखते हुए वह न्यून है । उनसे मिलकर ज्ञात कर आओ कि कितनी वृद्धि किसलिए करनी चाहिए ?’ इसीलिए मैं चाहता हूँ कि आप उचित कारण दिखलाते हुए अपने वेतन में वृद्धि कराने के लिए एक आवेदन पत्र मौर्यराज के सम्मुख उपस्थित करा दें । मैं आपके इस कार्य में सहायता प्रदान करना

अपना धर्म समझ रहा हूँ। राजकोष से आपको वेतन अधिक यदि मिल गया तो इसमें हानि क्या है ?”

प्रधान मंत्री की आशापूर्ण इन बातों से धर्ममहामात्र प्रसन्नता की सीमा का उल्लंघन कर गया। उसने तुरंत आवेदन पत्र लिखना आरंभ कर दिया। थोड़े से समय में उसे समाप्त करके उसने प्रधान मंत्री से कहा, “मैं पढ़कर सुना रहा हूँ। यदि कोई त्रुटि हो तो उसे सुधार देंगे ऐसी मुझे आशा है।”

प्रधान मंत्री ने कहा, “मैं अपने धर्म का पालन करना भली भाँति जानता हूँ। यदि कोई त्रुटि होगी तो मैं उसे तुरंत बतला दूँगा। आप अपने आवेदन-पत्र को तुरंत सुना दें। चिन्ता करना व्यर्थ है।”

धर्ममहामात्र ने कहा, “जब आप मेरे सहायक हैं तब चिन्ता मेरे पास आ ही नहीं सकती।”

इतना कह कर उसने प्रधान मंत्री को अपना लिखा आवेदन पत्र सुनाना आरंभ कर दिया :—

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

पिप्पलीवन विभूषण मौर्यवंशावतंस चन्द्रगुप्त-प्रकाश-स्तम्भ विन्दुसार शिरोमणि सम्राट् अशोकवर्धन आशास्थल, कुनाल, जलौक, दशरथ, सम्प्रति, शालिशूक, देववर्मा प्रभृति राजप्रबद्धित शतधनुषोत्तर प्रतापी बृहद्रथ चरण कमलेषु

मौर्यराज सम्मानित, प्रजाजन प्रतिष्ठित, धर्मचक्रोपरि व्यवस्थित धर्ममहामात्र इति पदवी सुरक्षित राजधर्म, मानवधर्म

आदि धर्माधिकरण नियंत्रित जनहित साधनार्थ सतत उपस्थित विनयावनत आज्ञापालक सेवक धर्मदर्शी लिखित निवेदन मेतत् :—

नियमानुसार प्राप्त वेतन का अधिकांश नृत्यकलादि में व्यय हो जाता है। मौर्यराज की जो प्रतिष्ठा कला-प्रेमियों के मन-मन्दिर में वर्तमान है उसकी रक्षा मेरे विचार से अनिवार्य है। अतः मेरे वेतन का तीन चतुर्थांश नृत्यकला में ही व्यय हो जाता है। यदि श्रीमान की विशेष कृपा-दृष्टि मुझ सेवक पर हो जाय तो जितना वेतन इस समय प्राप्त है उसका तीन चतुर्थांश और प्राप्त करा दिया जाय जिससे कि मैं पूर्ण गौरव की रक्षा सरलता से कर सकूँ। आशा है कि श्रीमान मेरे इस आवेदन पत्र पर सहानुभूति पूर्ण विचार करते हुए सन्तोषजनक आदेश करने की कृपा करेंगे। इति शुभ मिति आश्विन शुक्ल ११ सम्बत् ३५६ बुद्धाब्द, स्थान धर्ममहामात्र भवन, पाटलिपुत्र।”

धर्ममहामात्र के इस आवेदन पत्र को सुनकर प्रधानमंत्री ने कहा, “आपका यह आवेदन पत्र एक विचित्र शैली का है। ऐसा आवेदन पत्र इस पाटलिपुत्र में और कोई नहीं लिख सकता। आपने तो इस आवेदन पत्र में अपनी सारी विद्वत्ता प्रदर्शित कर दी है। हमारे मौर्यराज जिस समय इसे पढ़ेंगे उसी समय इसका अर्थ समझने के लिए आपको ही बुलायेंगे। आप उनकी आज्ञा पर तुरन्त उपस्थित होने के लिए प्रस्तुत रहें ताकि उनके विचार आपके प्रति अनुकूल ही बने रहें। लाइए, आप अपने

आवेदन पत्र को और मुझे चलने की आज्ञा दीजिए जिससे कि मैं अन्य आवश्यक कार्यों को कर सकूँ।”

प्रधान मंत्री को रोकते हुए धर्ममहामात्र ने प्रश्न किया, “अब आप यहाँ से किस ओर जायेंगे ?”

प्रधान मंत्री ने धर्ममहामात्र से कहा, “सेनापति पुष्यमित्र के यहाँ जाने का विचार है।”

धर्ममहामात्र—“तो फिर आप मेरा यह आवेदन मुझे देते जाइए। मैं नहीं चाहता कि आप इधर उधर जा जाकर मेरे आवेदन-पत्र को दिखाते फिरें। एक तो आपको उसके पास जाना ही न चाहिए क्योंकि वह आपको और मुझको अपना शत्रु समझता है। मान लीजिए मेरा यह अनुमान सत्य नहीं है, फिर भी इस समय सेनापति पुष्यमित्र संदिग्ध राजद्रोही है। जयसेन का बन्दीगृह से भाग जाना साधारण सी बात नहीं है। साधारण मनुष्य इतना साहस नहीं कर सकता कि वह रात्रि में बन्दीगृह तक जाय और प्रहरियों को अपने वश में करके अपराधी को ले जाय। ये सब कूटनीति की बातें वही जान और समझ सकता है जिसका संबंध राज्य के निर्माण तथा विनाश से हो चुका हो। सेनापति पुष्यमित्र चाहता है मौर्यराजवंश का विनाश और नये राजवंश का निर्माण। यह सब मौर्यराज बृहद्रथ भी जानते हैं तभी वे उसके नाम से ही क्रुद्ध हो जाते हैं।”

प्रधान मंत्री—“यदि मुझ पर आपका पूर्ण विश्वास हो तो मान लेना चाहिए कि अब पुष्यमित्र के जीवन का अन्तकाल

समीप है। परमात्मा के कोप से राजा बचा सकता है किन्तु राजा के कोप से परमात्मा नहीं बचा सकता। राजा के कोप से वही बच सकता है जो अपने में राजकृपा की इच्छा नहीं रखता और जनता की भावना को अपने अनुकूल नित्य बनाये रखने का प्रयत्न करता है।”

प्रधान मंत्री के शब्दों की व्यंजना क्या है इसे धर्ममहामात्र नहीं समझ सका। फिर भी उसने उत्तर देने का प्रयत्न करते हुए कहा, “आपके कथन का शेषांश मानने को मैं तैयार नहीं हूँ। यदि राजा ने किसी पर कोप किया तो उसे अपनी रक्षा के लिए राजकृपा की इच्छा अवश्य करनी चाहिए अन्यथा जनता की भावनाएँ उसके अनुकूल नहीं हो सकतीं। प्रमाण स्वरूप सेनापति पुष्यमित्र को ही लीजिए। यदि मौर्यराज बृहद्रथ उसे मिटाना चाहते हैं तो सेनापति पुष्यमित्र किस प्रकार अपनी रक्षा कर सकता है? ऐसा ही कोई भाग्यहीन इस पाटलिपुत्र में होगा जो अपनी भावनाओं को उसके अनुकूल बनाने का दुस्साहस करे।”

प्रधान मंत्री ने साधारण ढंग से कहा, “मैं भी समझ रहा हूँ कि मेरे कथन का शेषांश युक्ति पूर्ण नहीं है। आपको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि मौर्यराज बृहद्रथ का आदेश है कि आगामी वर्ष से पुष्यमित्र को सेनापति के पद से च्युत कर दिया जाय। उसके बाद फिर कोई सेनापति नहीं बनाया जायगा। मौर्यराज बृहद्रथ स्वयं सेना को सम्हालने का प्रयत्न करेंगे। उनका यह भी आदेश है कि वेतन जो सेनापति को

दिया जाता है वह सब धर्ममहामात्र को, उनका आवेदन पत्र आते ही दे दिया जाय जिससे कि धर्म के कार्य सुचारु रूप से होते रहें। जहाँ धर्म की रक्षा की जाती है वहाँ शत्रु का भय नहीं रहता। जब शत्रु का भय न रह गया तब सेना और सेनापति की आवश्यकता ही क्या है ? उनके इस आदेश से तो मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। आप प्रसन्न हुए या नहीं, इसे मैं नहीं जान सका।”

धर्ममहामात्र ने उत्तर दिया, “इससे अधिक मेरे लिए प्रसन्नता की और कौन सी बात होगी ?”

इतने में सुनेत्रा जो अभी तक शान्त भाव से बैठी थी, बोली, “आदरणीय प्रधान मंत्री महोदय तथा अन्नदाता धर्ममहामात्र महोदय ! यह सत्य है कि मैं नर्तकी हूँ किन्तु नृत्यकला का जो सम्बन्ध मानव-जीवन के साथ साथ राज्य-विकास से है उसे कदाचित् आप न जानते होंगे। यदि आप को मेरी कला पर सन्तोष है, यदि आपको मेरे सौन्दर्य पर अभिमान है, यदि मेरे राजभक्त हाने में आपको किसी बात का सन्देह नहीं है, यदि आप चाहते हैं कि सेनापति पुष्यमित्र का विनाश हो जाय और मौर्यराज बृहद्रथ अथवा मौर्यराज्य के शासन पर कलंक भी न आये तो मुझे आज्ञा दीजिए, मैं अपने को संकटापन्न करती हुई सेनापति के जीवन का अन्त किये आती हूँ। इस साधारण सी बात के लिए आप दोनों ने नृत्यकला के आनन्द की ही हत्या कर डाली और घोषित करते हैं कि आप अहिंसा के पक्षपाती हैं। यदि सत्य की हत्या नहीं की जाती तो यह स्पष्ट है कि राजकर्मचारियों में यदि कोई वास्तव में अहिंसा धर्म को

मानता है तो वह पुरुष-रत्न एक है जिसे मैं धर्ममहामात्र कह सकती हूँ ।”

प्रधान मंत्री ने तुरंत सुनेत्रा को थोड़ी सी स्वर्ण मुद्राएँ पारितोषिक के रूप में दीं और प्रशंसा करते हुए कहा, “मैं तुम्हारी इन बातों से अधिक प्रसन्न हुआ । आशा है, धर्ममहामात्र के आदेश से तुम वैसा अवश्य करोगी जैसा कि अभी कह चुकी हो । तुम्हारी नीति-निपुणता सराहनीय है । गुप्तचरों ने जिस सूची को मेरे सम्मुख उपस्थित किया है उसमें एक नाम भद्रसेन की कन्या सुनेत्रा का भी है और अनुसंधान करने वालों ने सूचित किया है कि इस समय सुनेत्रा धर्ममहामात्र के भवन में बन्द है । क्या मैं पूछ सकता हूँ कि सुनेत्रा धर्ममहामात्र के भवन में किस स्थान पर है ?”

धर्ममहामात्र के मानसिक भावों को समझ कर सुनेत्रा ने नम्रता के साथ कहा, “आज प्रातःकाल वह यहाँ से भाग गई है । कदाचित् थोड़ी ही देर में लौट आये । पाटलिपुत्र में वह और कहाँ स्थान पा सकती है ? धर्ममहामात्र का भवन तो एक ऐसा गंगा के समान पवित्र प्रवाह है जहाँ पर सभी शरण पा लेते हैं; चाहे वे राजभक्त हों या राजद्रोही । तीन दिन हुए, जय-सेन भी यहीं आया था । इसी भवन से उसे भोजन भी दिया गया । अभय उस दिन बतना रहा था कि धर्ममहामात्र ने सेनापति पुष्यमित्र को गुप्त पत्र लिखा है और उस पत्र का आशय उसने इतना ही बतलाया कि धर्ममहामात्र स्वयं मौर्यराज बृहद्रथ को मिटाकर राजसिंहासन पर बैठना चाहते हैं । जब पुष्यमित्र

ऐसे सेनापति हों और आप जैसे प्रधानमंत्री हों तब धर्ममहामात्र को राजसिंहासन न प्राप्त हो, तो बड़ी लज्जी की बात है।”

२३

सुनेत्रा की इन बातों को सुनकर प्रधानमंत्री ने धर्ममहामात्र से प्रश्न किया, “सुनेत्रा गई तो गई किन्तु इस समय यह तो बताओ कि इस नर्तकी के इस कथन में सत्यता कहाँ तक है ? यदि सत्यता का अंश इसके कथन में वर्तमान हो तो मैं आपको राजसिंहासन पर बैठाने का प्रयत्न करूँ। इस समय आप जितना वेतन पा रहे हैं उसका तिगुना राजा हाने पर पायेंगे। हम और पुण्यमित्र आपका साथ अवश्य देंगे। जो धर्म का प्रधान अधिकारी है वास्तव में राजा भी वही है। मौर्यराज बृहद्रथ की आवश्यकता ही क्या है ? यदि आप सम्मति प्रदान करें तो आगामी वर्ष तक हम आपके लिए राजगद्दी रिक्त करा दें।”

सुनेत्रा ने प्रधानमंत्री से कहा, “यदि आप मुझे आज्ञा प्रदान करे तो मैं धर्ममहामात्र की ओर से कुछ निवेदन करूँ। आप विचारवान् पुरुष हैं अतः धर्ममहामात्र के मौन रहने का अर्थ “मौनं हि सम्मति लक्षणम्” के अनुसार समझ लेंगे। संसार में ऐसा कोई मूर्ख होगा जो राज-सिंहासन को न चाहता हो।”

धर्ममहामात्र ने सुनेत्रा की बातों को सुनकर कहा, “भद्रसेन

की पुत्री सुनेत्रा की विचारधारा भी ऐसी ही अत्राध थी किन्तु वह इस समय नहीं है। यदि वह होती तो इस नर्तकी से भी अधिक वाक्पटुता दिखाती। जिस समय यह नर्तकी मेरे यहाँ आई उस समय बोलना तक नहीं जानती थी। यह तो सुनेत्रा की कृपा है जो इस समय यह इस प्रकार बोल रही है। मैं तो इसकी बातों को सुन सुन कर अधिक प्रसन्न हो रहा हूँ।”

प्रधान मन्त्री ने धर्ममहामात्र से प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, “आपका प्रयत्न सराहनीय है। आशा है कि कल आपका साक्षात्कार प्राप्त होगा। मैं अब चलना चाहता हूँ। कार्य की अधिकता न होती तो मैं आपके भवन में सुलभ किये गये नृत्य का भी आनन्द-ग्रहण करता।”

इस प्रकार की बातें करके प्रधानमन्त्री धर्ममहामात्र के भवन से प्रस्थान कर गया और कुछ समय के अनन्तर ही अपने निवास स्थान पर आ गया। देखता है कि प्राङ्ग्विक उसकी प्रतीक्षा में बैठा हुआ है। दोनों यथोचित सम्मान प्रदर्शित करते हुए अपने अपने आसन पर बैठ गये।

प्रधानमन्त्री ने प्राङ्ग्विक से शिष्टाचारपूर्ण शब्दों में कहा, “आपको कष्ट अवश्य हुआ होगा।”

प्राङ्ग्विक ने शिष्टाचार की रक्षा करते हुए कहा, “जब आपके इस भवन में कष्ट का प्रवेशाधिकार है ही नहीं, तब वह मेरे पास किस प्रकार आ सकता था? मैं यहाँ पर आनन्द का ही अनुभव करता रहा।”

प्रधान मन्त्री—“यह आपकी सज्जनतापूर्ण विशेष कृपा है।

आपने ऐसी कृपा किसलिए की है ?”

प्राङ्‌विवाक—“मैं आपके समीप इसलिए आया हूँ कि अपनी शंकाओं का समाधान करा लूँ ।”

प्रधान मन्त्री—“यदि आप मुझे इस योग्य समझते हैं तो मैं सेवा करने को सहर्ष प्रस्तुत हूँ ।”

प्राङ्‌विवाक—“मैं यह जानता चाहता हूँ कि मौर्यराज बृहद्रथ का अपना धर्म कौन सा है ?”

प्रधान मन्त्री—“मौर्यराज बृहद्रथ का अपना धर्म बौद्ध-धर्म है इसे सभी जानते हैं ।”

प्राङ्‌विवाक—“बौद्ध-धर्म के अनुसार राज्य में राजा को कौन सा स्थान प्राप्त है ?”

प्रधान मन्त्री—“इस प्रश्न का उत्तर दे सकने में मैं असमर्थ हूँ । बौद्ध साहित्य में जिन गण-राज्यों का उल्लेख है, उनकी शासन प्रणाली में जो व्यवस्था थी वही बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की भी होनी चाहिए—ऐसा मैं कह सकता हूँ । किन्तु समय के परिवर्तन के साथ साथ शासन व्यवस्थाएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं । मैं तो आपसे केवल इतना ही जानना चाहता हूँ कि आप ऐसे प्रश्न क्यों कर रहे हैं ?”

प्राङ्‌विवाक—“मेरी पुनः नियुक्ति तो हुई किन्तु मुझे मेरा वह सम्मान पुनः न प्राप्त हुआ जो कि नियमानुसार प्राप्त होना चाहिए था । यदि राजा वही है तो उसकी दृष्टि में सम्मान भी वही होना वांछनीय है, किन्तु मैं निरन्तर देखता चला आ रहा हूँ कि भरे प्रति राजा का दृष्टिकोण कुछ दूसरा ही हो चुका

है। विरूप दृष्टिकोण मेरे लिए असहनीय है। इसीलिए मैं जानना चाहता था कि क्या ऐसा दृष्टिकोण बौद्धधर्म के कारण हुआ है? यदि इससे बौद्ध-धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है तो वैदिक धर्म मौर्यराज बृहद्रथ को राजा स्वीकार नहीं करता, क्योंकि राज्याभिषेक वैदिक विधि के अनुसार नहीं हुआ है। इसीलिए मैं यह जानना चाहता था कि यदि बौद्ध-धर्म राजा का धर्म है तो क्या बौद्ध-धर्म के अनुसार राजा का यही स्वरूप है अथवा इससे कुछ भिन्न कोई दूसरा स्वरूप है?”

प्राड्विवाक की बातों को सुनकर प्रधान मंत्री ने समझाते हुए कहा, “आप अपना कार्य करते रहें। यदि आप इस प्रकार की उलझनों में उलझते रहेंगे तो आपका भविष्य अधिकतर अंधकारपूर्ण हो जायगा।”

प्राड्विवाक—“मैं आपको अपना मित्र समझ रहा हूँ। मित्र से यदि मैं अपने कष्टों का वर्णन करता हूँ तो इसमें कोई हानि नहीं है। सत्य मानिए कि मैं मौर्यराज बृहद्रथ के व्यवहार से संतुष्ट नहीं हूँ।”

प्रधान मंत्री—“आप मुझे अपना मित्र समझ रहे हैं यह आपकी विशेष कृपा है। मित्र होने के कारण मैं आपको समझा देना चाहता हूँ कि राजनीति में कोई किसी का मित्र नहीं होता। राजशक्ति की प्रियपात्रता सभी चाहते हैं। मित्र कह कर मित्र के मानसिक विचारों का सारांश ग्रहण करना और उसी सारांश का दुरुपयोग करते हुए अपने को राजा का प्रियपात्र

बना लेना आधुनिक मित्रों की एक नीति हो रही है। यह स्पष्ट है कि इस समय सेनापति पुष्यमित्र के कारण मौर्यराज बृहद्रथ के विचार कट्टरतापूर्ण साम्प्रदायिक हो रहे हैं। राजा होने का अभिमान उन्हें एक ऐसे मार्ग पर लिये जा रहा है जिसका अन्त किस प्रकार होगा, इसकी कल्पना भी कर सकना मेरे लिए कठिन हो रहा है।”

प्राङ्विवाक—“मुझे तो इतना असंतोष है कि क्रोध के कारण मेरा शरीर जला जा रहा है। विचार प्रबलता को धारण कर प्रतिहिंसा के मार्ग पर चलने को प्रस्तुत हो रहे हैं। यदि आप अनुचित न समझें तो मैं आपको सूचित कर देना चाहता हूँ कि मेरा विचार बृहद्रथ से प्रतिशोध लेने का हो रहा है। यदि ऐसे अयोग्य तथा अनुचित-भाषी राजा का अन्त न किया गया तो हम लोगों का यह मानव-जीवन ही व्यर्थ है। हम सब पशुओं की श्रेणी से भी अधिक पतित और ज्ञानशून्य हैं। अधर्मी की सेवा में न निर्वाण है और न शान्ति है। चाहे ब्राह्मण धर्म हो, चाहे जैन धर्म हो, चाहे बौद्ध धर्म हो; किसी की भी यह आज्ञा नहीं है कि जिसका कोई शुद्ध सिद्धान्त नहीं है अर्थात् जो पूर्ण रूप से अधर्मी है उसकी सेवा की जाय।”

प्रधान मंत्री—“मौर्यराज बृहद्रथ को आप किस प्रकार अधर्मी समझ रहे हैं?”

प्राङ्विवाक—“मैं आपसे जानना चाहता हूँ कि धर्म की परिभाषा क्या है?”

प्रधान मंत्री—“जिस कर्म से मानव-समाज तथा मानव-से सम्बन्ध रखनेवाले संसार का अभ्युदय होता हो, अपीड़न का व्यवहार सब को सुखी बना सकता हो और संरक्षण की व्यवस्था सुख देने वाली हो, उस कर्म का नाम धर्म है।”

प्राड्विवाक—“यदि ऐसा कर्म, धर्म है तो यह भी सत्य है कि जिस कर्म से इस कर्म में बाधा पड़ती हो वह अधर्म है। क्या इसमें भी आपको किसी प्रकार का सन्देह है?”

प्रधान मंत्री—“धर्म तथा अधर्म की साधारण परिभाषा इतनी ही है। मुझे किसी भी बात का संदेह नहीं है। आप यह प्रमाणित करें कि मौर्यराज वृहद्रथ अधर्मी किस प्रकार हैं। बौद्ध-धर्म का अभ्युदय नित्य हो रहा है, बौद्ध-भिक्षु चाहे कहीं भी जाँय, उनके साथ पीड़न का व्यवहार कोई भी नहीं करता, कुक्कुटाराम जैसे बौद्ध-मठों का संरक्षण इस प्रकार किया जा रहा है मानो मौर्यराजवंश की राजलक्ष्मी का चमत्कार वहीं पर प्रकाशमान हो रहा है। हमारे मौर्यराज वृहद्रथ ने जिस धर्म को अपनाया है उसके लिए तो पूर्ण रूप से धार्मिक हैं ही। यदि हम दोनों ब्राह्मण धर्म के न होकर बौद्ध धर्म के होते तो मौर्य-राज वृहद्रथ के धार्मिक कार्यों की सराहना कर सकते थे। जब हमारे और मौर्यराज वृहद्रथ के धार्मिक विचार ही भिन्न हैं तब यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जिस प्रकार हम उनको अधर्मी समझ रहे हैं उसी प्रकार वे भी हम लोगों को अधर्मी समझते होंगे। इसलिए मैं आपसे कहता हूँ कि आप धर्म और अधर्म की मीमांसा में न्याय को तर्क के कुमार्ग पर न ले जाँय। यदि आप

सुखी होना चाहते हैं तो उसका सरल उपाय यही है कि आप मौर्यराज बृहद्रथ के दर्शन ही न करें। अपने कर्तव्यों का पालन कीजिए और शान्त भाव से वेतन लेकर सुख का भोग कीजिए।”

प्राङ्विवाक—“क्या बौद्ध धर्म राजधर्म से भी अधिक बढ़ कर है ?”

प्रधान मंत्री—“मैं राजधर्म को जानता हूँ किन्तु यह नहीं कह सकता कि यह बौद्ध-धर्म से बढ़कर है या घटकर है। क्योंकि जहाँ तक धर्म शब्द का प्रयोग है वहाँ तक दोनों ही समान हैं।”

प्राङ्विवाक—“आपके इस कथन को मैं पूर्ण रूप से न समझ सका। स्पष्ट कर दीजिए।”

प्रधानमंत्री—“जिस धर्म से बुद्धि की रक्षा होती है वह बौद्ध धर्म है और जिस धर्म से राज्य की रक्षा होती है वह राजधर्म है। बुद्धि के अभाव में राज्य नहीं और राज्य के अभाव में बुद्धि नहीं। अतएव जहाँ तक शुद्ध विचारों का सम्बन्ध है वहाँ तक हम दोनों को ही समान कह सकते हैं।”

प्राङ्विवाक—“जिसे आप राजधर्म कहते हैं कदाचित् वही क्षात्रधर्म भी है।”

प्रधान मंत्री—“निस्सन्देह राजधर्म ही क्षात्रधर्म है। महा-भारत में क्षात्रधर्म की अधिक प्रशंसा की गई है। पीड़न को बन्द करते हुए संरक्षण शक्ति का प्रयोग करना क्षत्रियों का कर्म है। जो स्वभाव से ही लोगों के संरक्षण में कुशल, शूर,

दमनशील और पराक्रमी होता है तथा दुष्टों को दुष्कर्मों से रोकता है—वही क्षत्रिय है। जब तक दुष्टों का दमन और साधुओं का रक्षण नहीं होता तब तक धर्म का प्रकाश प्रकाशमान नहीं होता। इसलिए धर्म स्थापन के लिए ही क्षात्र-तेज की आवश्यकता है। क्षत्रिय वर्ण को तो बुद्धदेव ने भी अधिक श्रेष्ठ बतलाया है। महाभारत में तो यहाँ तक लिखा हुआ है कि आदिदेव से सर्वप्रथम क्षात्रधर्म ही प्रकट हुआ है और इसके बाद शेष धर्मों की उत्पत्ति हुई। ये धर्म असंख्य और नाशवान हैं और संन्यास धर्म सहित क्षात्रधर्म के अधीन हैं। इसी क्षात्रधर्म में सब धर्मों का सम्मिलन है इसलिए इसे श्रेष्ठ धर्म कहते हैं। क्षात्रधर्म सब धर्मों से श्रेष्ठ, सनातन तथा मोक्ष पर्यन्त सर्वतो मुखी धर्म है। प्राचीन काल में विष्णु भगवान ने क्षात्र धर्मानुसार शत्रुओं का विनाश कर देवों और ऋषियों की रक्षा की थी। इससे भी यह स्पष्ट है कि दुष्टों के दमन और शिष्टों के संरक्षण के लिए भगवान ने क्षत्रिय वंश में जो अवतार लिया वह भी इसीलिए कि यह सब कार्य क्षत्रियों का ही सनातन कार्य बना रहे। क्षात्रधर्म से ही सभी धर्म की रक्षा की जा सकती है—भगवान के अवतारों के क्षत्रिय होने का रहस्य इतना ही है।”

प्राङ्मित्राक—“किन्तु इस प्रकार की बातें केवल सुनने में ही सुन्दर हैं। इस समय इस देश में न क्षात्रधर्म ही रह गया है और न कोई स्वाभाविक क्षत्रिय ही दृष्टि गोचर हो रहा है। यदि आपके कथनानुसार क्षात्रधर्म की रक्षा के लिए कोई भी

क्षत्रियकुमार साहस करता हुआ अग्रसर होता तो मैं अवश्य उसका सहायक बन जाता। मैं तो मौर्यराज की राज्य-व्यवस्था में अधर्म का ही अभ्युदय होना देख रहा हूँ। जितनी शीघ्रता से इसका विनाश हो उतनी ही अधिक मुझे प्रसन्नता होगी।”

प्रधान मंत्री—“शत्रु के दमन के लिए दो साधन अत्यावश्यक होते हैं।”

प्राङ्ग्विवाक—“उन साधनों का नाम क्या है?”

प्रधान मंत्री—“छल और बल। किन्तु आपके पास तो इनमें से एक भी नहीं है। अतएव साधनहीन हो कर शत्रु के दमन का उपाय सोचना केवल मूर्खता का ही चिह्न है।”

प्राङ्ग्विवाक—“आप इसकी चिन्ता न करें। बस, इतना स्वीकार कर लें कि मौर्यराज बृहद्रथ न राजधर्म मानत हैं, न मानव धर्म मानते हैं और न बौद्ध-धर्म को ही पूर्ण रूप से मानते हैं। ऐसे अधर्मी राजा का विनाश करना अथवा उसके लिए विनाश के उपाय सोचना अधर्म नहीं है।”

प्रधान मंत्री—“इतना तो मैं भी स्वीकार करता हूँ किन्तु ऐसा नरसिंह कहाँ है जो इस समय प्रकट होकर हमारे धर्म रूपी प्रह्लाद की रक्षा करे?”

धर्ममहामात्र के भवन से प्रधानमंत्री के जाते ही सुनेत्रा ने आनन्द-मंदाकिनी के पात्र में विष डाल कर उसे एक रूप कर दिया और अपने स्थान पर जाकर मधुर स्वर से संगीत का अभ्यास करने लगी। संगीत के आकर्षण से धर्ममहामात्र का हृदय विचलित होने लगा। अपने को वह रोक न सका और सुनेत्रा को संगीत के अभ्यास से रोकने का साहस भी न कर सका।

धीरे धीरे वह उसके समीप जाकर बैठ गया। उसको अपने समीप बैठा देखकर सुनेत्रा उठकर खड़ी हो गई और वहीं पर पूर्ण प्रसन्नता के साथ नृत्य करने लगी। नृत्य करते करते वह उसके विश्राम कक्ष में पहुँच गई और बिना संकोच के उसके पलंग पर बैठ गई। अब क्या था ? धर्ममहामात्र की समझ में यह आ गया कि जो उसकी भावना है वही सुनेत्रा की भी भावना है।

वह अपने कक्ष में आया और सुनेत्रा के साथ पलंग पर बैठ गया। सुनेत्रा ने उसके कंधे पर अपना हाथ रख दिया और दूसरा हाथ उसके हाथ पर रख कर कहा, “जीवन की तरंगों में जब प्रेम रूपी चन्द्र की किरणें प्रतिबिम्बित होती हैं तब चित्त पागल हो जाता है। उपवन की कलियाँ जब अपने यौवन के विकास को प्राप्त होती हैं तब उनका सौरभ युवती बालाओं

के लिए उन्माद का कारण बन जाता है। शीतल मन्द सुगन्ध पवन जब मेरे अंगों को स्पर्श करता है तब मेरा शरीर एक अपूर्व आनन्द को अनुभव करने लगता है। क्या बतलाऊँ मैं अपने पापी चित्त की भावनाओं को, मेरे चित्त में यही आता है कि मैं आप में प्रवेश कर जाऊँ।”

सुनेत्रा की इन सब बातों को सुनकर धर्ममहामात्र ने सन्तोष प्रकट करते हुए कहा, “यदि तुम मुझमें प्रवेश करना चाहती हो तो मैं यही चाहता हूँ कि इस कार्य में विलम्ब नहीं होना चाहिए।”

सुनेत्रा ने कहा, “यदि मेरे प्रवेश करने से आपके प्राण निकल गये तो ?”

धर्ममहामात्र—“ऐसी मृत्यु भाग्यशाली ही प्राप्त किया करते हैं।”

सुनेत्रा—“किन्तु कलङ्किनी तो मैं ही हूँगी। मेरा कलङ्क किस प्रकार दूर होगा ?”

इतना कहकर सुनेत्रा अश्रुपात करने लगी। धर्ममहामात्र ने उसके आँसुओं को पोंछते हुए कहा, “तुम व्यर्थ शोक कर रही हो। जीवन और मरण, इन दोनों को हम अपने हाथ में नहीं कर सके। जो अपने हाथ की बात नहीं है उसके लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए।”

सुनेत्रा ने उसी प्रकार अपने आँसुओं को बहाते हुए कहा, “यदि आप भी इस संसार से चल बसे तो फिर मेरा हितैषी कोई नहीं रह जायगा। पिता जी ने तो भवन से निकाल ही

दिया है। आज तक भी उन्होंने मेरा अनुसंधान करने की चेष्टा नहीं की। मैं इतनी सुंदरी होकर भी अनाथिनी ही रही। दुर्भाग्य इसी का नाम है। आप आनंद कीजिए, मैं जाती हूँ। भिक्षा माँगकर जीवन-निर्वाह करूँगी किन्तु आपके लिए भार बनकर नहीं रहूँगी।”

इस प्रकार कहकर सुनेत्रा पलंग से उठने लगी। धर्ममहामात्र ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा, “जब तक मैं जीवित हूँ तब तक तुम्हें भिखारिनी नहीं बनने दूँगा।”

अपने हाथ को छुड़ाती हुई सुनेत्रा ने कहा, “जब आपके न रहने पर मुझे भिखारिनी बनना ही है तब उचित यही होगा कि आपके रहते हुए ही मुझे उस मार्ग को अपना लेना चाहिए। जीवित रहनेपर सभी के यहाँ ऐसा समादर नहीं हो सकेगा और न ऐसा सुख ही प्राप्त होगा। इसलिए मैं या तो मर जाऊँ या भिखारिनी बनकर ठोकरें खाऊँ। आप भी अपने नेत्रों से देख लें कि सुनेत्रा की कैसी दुर्दशा होती है। आप जितनी बातें कर रहे हैं वे सब ऊपरी हैं। यदि आप सत्य और धर्म के नाम पर कलङ्क लगाना उचित नहीं समझते हैं तो आप के लिए यही योग्य है कि आप अपने हाथों मेरे जीवन का अन्त कर दें। जिस समय मैं यह सोचती हूँ कि आपका जीवन सङ्कट में है उस समय मेरे सामने अँधेरा सा छा जाता है। मैं नहीं बता सकती कि ऐसा क्यों होने लगता है? आप मेरे होते ही कौन हैं?”

सुनेत्रा की बातों को सुनकर धर्ममहामात्र ने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा, “सुनेत्रा ! यदि मैं जीवित न रहा तो तुम्हें अपने

लिए चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैं समझ रहा हूँ कि इस समय तुम्हारे मन में कौन सा विचार उठा हुआ है और वह किस प्रकार तुम्हें अशान्त कर रहा है ?”

सुनेत्रा ने प्रश्न किया, “यदि आप समझ गये हैं तो बतलाते क्यों नहीं हैं ?”

धर्ममहामात्र—“तुम्हारे मन में यह भय समाया हुआ है कि आजकल मौर्यराज के विनाश का जो षड़यंत्र चल रहा है उसके कारण कहीं मेरी मृत्यु न हो जाय। यदि मौर्यराज बृहदथ को यह विदित हो गया कि मैं सेनापति पुष्यमित्र से मिला हुआ हूँ तो वह मेरा वध करा सकता है। यदि सेनापति पुष्यमित्र को विदित हो गया कि मैं उसका विरोधी हूँ तो वह भी मेरा वध करा सकता है। ऐसी दशा में मेरा जीवन अनिश्चित है।”

सुनेत्रा—“आपने तो ऐसा समझ लिया है जैसा ज्योतिषी समझा करते हैं। क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि सेनापति पुष्यमित्र किस प्रकार आपका वध करा सकता है ?”

धर्ममहामात्र—“यदि वह मेरा वध कराना चाहता है तो वह मेरे सेवक को प्रलोभन में फँस सकता है और मेरे भोजन आदि में विष का प्रयोग उसी के द्वारा करा सकता है।”

सुनेत्रा—“प्रलोभन कैसा ?”

धर्ममहामात्र—“धन का प्रलोभन। सेवक और सेविकाएँ इसी से वशीभूत की जाती हैं।”

सुनेत्रा—“आपके यहाँ यदि ऐसा कोई सेवक है तो केवल एक है। वह सरलता से वशीभूत किया जा सकता है। प्रधान-

मन्त्री के सम्मुख मैंने कहा था कि तीन दिन हुए जयसेन भी यहीं आया था। इसी भवन से उसे भोजन भी दिया गया था। अभय ने उसका स्वागत भी किया था। जब मैंने जयसेन का परिचय अभय से पा लिया तब उसे समझाने का मैंने प्रयत्न भी किया।”

धर्ममहामात्र—“तुमने किस प्रकार समझाने का प्रयत्न किया था ? और उसका अभय पर कैसा प्रभाव पड़ा। मुझे तो पूर्ण रूप से आशा है कि वह तुम्हारी बातों को मान गया होगा अथवा ऐसा तर्क किया होगा जिससे कि तुम्हें उसके सामने अपना मस्तक झुकाना पड़ा होगा।”

सुनेत्रा—“जिस समय मैं अभय के समीप गई उस समय जयसेन चला गया था।”

धर्ममहामात्र—“हो सकता है कि जयसेन कहीं तुमसे ही मिलने न आया हो ?”

सुनेत्रा—“यदि ऐसा ही था तो वह मुझसे क्यों न मिला ? मैं उससे भी मिल लेती। मैं तो यह देखने को तरसा करती हूँ कि राजद्रोही की आकृति किस प्रकार की हुआ करती हैं।”

धर्ममहामात्र—“क्या तुमने अभी तक राजद्रोही की आकृति नहीं देखी है ?”

सुनेत्रा—“यदि एक बार कहीं देख लेती तो मैं अपने को धन्य समझती।”

धर्ममहामात्र—“राजद्रोही की आकृति वैसी ही होती है जैसी कि मेरी है।”

सुनेत्रा—“किन्तु आप तो राजभक्त धर्ममहामात्र हैं। यदि राजद्रोही की और आपकी आकृति एक सी है तो फिर आप राजद्रोही क्यों न हुए और वह राजद्रोही राजभक्त क्यों न हुआ ?”

धर्ममहामात्र—“आकृति की समानता कहीं नहीं ली जाती। समानता तो स्वभाव की होती है। हमारा और जयसेन का स्वभाव समान नहीं है इसलिए वह राजद्रोही कहाता है।”

सुनेत्रा—“और आप राजभक्त धर्ममहामात्र कहते हैं। इसे मैं यदि इस प्रकार समझूँ कि आप अपने अन्नदाता के भक्त हैं तो कदाचित् मेरा यह कथन असत्य न होगा।”

धर्ममहामात्र—“तुम्हारा यह कथन अक्षरशः सत्य है।”

सुनेत्रा—“अन्नदाता का भक्त होना, यह आपका स्वभाव हुआ।”

धर्ममहामात्र—“सुनेत्रे ! तुम एक ही प्रश्न को बारबार मथा करती हो।”

सुनेत्रा—“क्या करूँ ? मेरा स्वभाव ही ऐसा है। क्या मेरा भी स्वभाव आप के लिए विरोधी स्वभाव हो रहा है। यदि ऐसा है तो मैं अपने स्वभाव को सरल मार्ग पर लाती हूँ।”

धर्ममहामात्र—“तुम इतनी अबोध और सरल हो कि मैं मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता।”

सुनेत्रा—“अन्नदाता के भक्त आप हैं और आपका सेवक अभय भी अपने को अन्नदाता का भक्त कहता है। मैं यह जानना चाहती हूँ कि आपके स्थान पर अभय और अभय के

स्थान पर आप क्यों नहीं हो जाते। जब स्वभाव की समानता है तब फिर इतना अन्तर नहीं होना चाहिए।”

धर्ममहामात्र ने सुनेत्रा को अपने बाहु-पाश में जकड़ते हुए कहा, “क्या तुम चाहती हो कि अभय को भी ऐसा ही सौभाग्य प्रदान किया जाय ? मैं जितना अन्तर इस सौभाग्य के उपभोग में समझ रहा हूँ उतना अन्तर जीवन के प्रत्येक मार्ग पर समझता रहूँगा। स्वामी और सेवक समान नहीं हो सकता।”

इतने में वहाँ अभय आ गया। अभय क आते ही धर्म-महामात्र का बाहु-पाश शिथिल पड़ गया। सुनेत्रा ने धर्ममहामात्र से कहा, “मैं आज अत्यधिक सुन्दरी बनना चाहती हूँ।”

धर्ममहामात्र—“यदि तुम्हारा विचार ऐसा है तो मुझे किसी बात की आपत्ति नहीं है।”

सुनेत्रा—“मैं सब प्रकार के मूल्यवान् आभूषणों से अपने को सुसज्जित करना चाहूँगी।”

धर्ममहामात्र ने अभय से कहा, “आभूषणों की जो मंजूषा* है उसे यहाँ पर ले आओ।”

आज्ञा के पाते ही अभय आभूषणों की मंजूषा ले आया। हीरा, पन्ना, मोती तथा स्वर्ण के जितने आभूषण थे सभी को सुनेत्रा ने धारण कर लिया और आनन्द की अधिकता होने से वह फिर धर्ममहामात्र से सम्मुख नृत्य करते करते उसने अभय को संकेत किया। अभय वहाँ से चला गया। धर्ममहामात्र ने

* मंजूषा — पेटी

सुनेत्रा से कहा, “नृत्य को समाप्त कर दो और एक बार इस तृष्णार्त चातक को दो बूँद स्वाती के दे दो।”

समीप रखे हुए आनंद-मंदाकिनी के पात्र की ओर संकेत करके सुनेत्रा ने कहा, “क्या इस अमृत से आपकी तृष्णा नहीं मिट सकती। आज तो मेरा भी जी चाहता है कि मैं भी इस आनंद-मंदाकिनी के पात्र को अपने अधरों से लगा लूँ। आनंद ही आनंद प्राप्त होगा।”

इसके बाद उसने धर्ममहामात्र से कहा, “मेरा विचार पाटलिपुत्र की शोभा देखने का हो रहा है। रजनी में इसकी शोभा कितनी दर्शनीय है यह मैं नहीं जानती। यदि आप आज्ञा दें तो अभय को साथ लेकर मैं भ्रमण कर आऊँ। इसके बाद आज मैं आप की उन सब कल्पनाओं को चरितार्थ कर दूँगी जिनके लिए आप मेरा स्वप्न नित्य देखा करते हैं।”

धर्ममहामात्र ने तुरंत अभय को बुलाया और कहा, “सुनेत्रा के साथ साथ रहना। आज पाटलिपुत्र की शोभा रजनी में देखने का यह विचार कर रही है। विलंब करना व्यर्थ है।”

अभय ने धर्ममहामात्र से कहा, “आनंद-मंदाकिनी का पात्र पूर्ण है या अपूर्ण ?”

धर्ममहामात्र ने समीप के पात्र को उठा लिया और उस विष मिले हुए पात्र से आनंद-मंदाकिनी को उड़ेलते हुए पान पात्र को सामने रखकर कहा, “इतना मैं पान कर रहा हूँ। जो थोड़ा सा बच रहता है उसे इसी में रहने दो।”

इतना कहकर उन्होंने ने उसे पी लिया और जो थोड़ा रह

गया था उसे भी उड़ेलकर पान कर गये। पात्र के रिक्त होते ही अभय ने उसमें आनंद-मंदाकिनी को लाकर भर दिया।

धर्ममहामात्र ने अभय से कहा, “सुनेत्रा जब तक भ्रमण करे, उसके साथ रहना। यदि मैं तब तक सो जाऊँ तो फिर मुझे जगाना नहीं।”

इतना कहकर धर्ममहामात्र पलंग पर लेट गये। अभय के साथ सुनेत्रा पाटलिपुत्र की शोभा देखने के लिए निकल पड़ी। अभय उसके पीछे-पीछे चलने लगा।

२५

चलते चलते सुनेत्रा ने अभय से प्रश्न किया, “सुन्दरता और सौन्दर्य में अन्तर क्या है?”

सुनेत्रा के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए अभय ने कहा, “स्त्री और पुरुष में जितना अन्तर है उतना ही सुन्दरता और सौन्दर्य में भी अन्तर है। स्त्री में सुन्दरता होती है और पुरुष में सौन्दर्य होता है। सुन्दरता और सौन्दर्य जिस समय एक हो जाते हैं उस समय स्त्री और पुरुष का भिन्न हृदय अभिन्न हो जाता है। हृदय का अभिन्न होना ही मानव-जोवन के लिए अपूर्व आनंद का कारण बन जाता है। यही एक ऐसा कारण है जो संसार की रचना में सहायता करता रहता है।”

अभय के इस उत्तर को सुनकर सुनेत्रा ने कहा, “अच्छा तो यही होगा कि हम और तुम दोनों ही समीप के उद्यान में

चलकर विश्राम करें और वहीं पर अपूर्व आनन्द के विषय में विचार विनिमय करें। आश्विन शुक्ल पक्ष की एकादशी का चन्द्रमा कितना सुन्दर प्रतीत होता है। यदि तुम चाहते हो कि मैं तुम्हारे साथ वैसा ही व्यवहार करूँ जैसा धर्ममहामात्र से करती हूँ, तो तुम मेरे इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लोगे। बोलो, तुम मेरे साथ उद्यान में जाना चाहते हो या नहीं ?”

अभय ने प्रसन्नता पूर्वक कहा, “सुन्दरता यदि सौन्दर्य के साथ है तो सुन्दरता के प्रस्ताव को सौन्दर्य अस्वीकार नहीं कर सकता। तुम जैसा चाहती हो, मैं भी वैसा ही चाहता हूँ।”

परस्पर इस प्रकार बातें करके दोनों ही उद्यान के भीतर प्रवेश कर गये। कुछ दूर जाकर वे दोनों एक स्थान पर बैठ गये। अभय को अपने से दूर बैठते हुए देखकर सुनेत्रा ने उससे कहा, “मैं यह न समझ सकी कि तुम मुझसे क्यों दूर भाग रहे हो ? क्या तुम मुझे सुदर्शना की भाँति चंडाल कन्या समझ रहे हो अथवा तुम्हारा हृदय मुझे इस योग्य नहीं स्वीकार कर रहा है कि वह मेरे इस हृदय से मिलकर अभिन्न होने का सौभाग्य प्राप्त करे ? तुम में यदि सौन्दर्य है तो मेरी सुन्दरता से संकोच क्यों कर रहे हो ? एकादशी का चन्द्रमा जिस प्रकार थोड़े से समय में गगन से दूर हो जायगा, उसी प्रकार हम दोनों ही इस उद्यान से थोड़ी ही देर में कहीं दूर चले जायँगे। इसलिए मैं स्पष्ट कह देना चाहती हूँ कि मेरा यह रजनी का विहार केवल तुम्हारे ही लिए सोचा गया है।”

अब क्या था ? सुनेत्रा की इन बातों को सुनकर अभय को

ऐसा बोध हुआ, मानों गगन मंडल का न मिल सकने वाला चन्द्रमा उसी के पास आ गया हो। बिना किसी तर्क के वह सुनेत्रा के समीप शरीर से शरीर को स्पर्श कराता हुआ बैठ गया। सुनेत्रा ने उससे निश्चिन्त होकर बैठ जाने के लिए कहा। वह उसी प्रकार का भाव दिखाता हुआ बैठ गया और सुनेत्रा की ओर देखने लगा।

सुनेत्रा ने अभय से कहा, “खेद तो इसी बात का है कि तुम्हें बैठना तक नहीं आता। यदि बैठना आता होता तो मुझे इस प्रकार न कहना पड़ता। देखो, जिस दिशा से चन्द्रमा की किरणें आ रही हैं उस दिशा की ओर अपना मुख करो। देखते नहीं हो कि मैं किस प्रकार किस ओर मुख किये बैठी हूँ। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार बैठो कि चन्द्रमा की किरणें हमारे और तुम्हारे मुख पर भली भाँति पड़ सकें। हम तुम्हारे मुख का सौन्दर्य देखें और तुम हमारे मुख की सुन्दरता देखो। सुन्दरता और सौन्दर्य का निखरा हुआ स्वरूप ऐसे ही उद्यानों में और ऐसी ही रजनी में अधिक प्रिय और आकर्षक होता है। जब हृदय अभिन्न होने के लिए चंचल होने लगे तो समझ लेना चाहिए कि अपूर्व आनन्द प्राप्त करने का शुभ मुहूर्त समीप ही है।”

सुनेत्रा ने जिस प्रकार बैठने के लिए कहा उसी प्रकार अभय बैठ गया। वे दोनों एक दूसरे के मुख को निहारते रहे। बड़ी देर के बाद अभय ने सुनेत्रा से प्रश्न किया, “तुम मुझ पर इतनी दयालु क्यों हो? मैंने तो स्वयं में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी

कि, तुम मुझ पर इतनी कृपा करोगी। मैं एक साधारण सेवक और तुम हमारे अन्नदाता की नयन-तारा ! मुझे ऐसा सौभाग्य क्यों प्रदान कर रही हो ?”

अभय को समझाते हुए सुनेत्रा ने कहा, “जिस प्रकार जाह्नवी के प्रवाह में सभी का अधिकार है, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा का प्रवेश सभी स्थलों में है, जिस प्रकार पवन देव का संचार समस्त सृष्टि मंडल में है, जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें अपनी सुन्दरता का दान सर्वत्र किया करती हैं उसी प्रकार मेरा भी जीवन है। जो मेरे समीप रहेगा, वही अपूर्व आनंद को प्राप्त करेगा। जो मुझसे दूर है उसके लिए मैं क्या कर सकती हूँ ? प्रेम के प्रवाह में तरङ्गों का उठना प्रत्येक समय नहीं होता। जिस समय प्रेम के प्रवाह में तरंगे उठने लगती हैं उस समय वही उनके आनंद को प्राप्त करता है जो उनके समीप बैठकर तपस्या किया करता है।”

अभय ने उत्तर देते हुए कहा, “मैं तुम्हारे इस युक्तिपूर्ण तर्क को मान गया।”

“यदि ऐसा है तो तुम शान्तभाव से यहीं बैठे रहो। मैं एकबार इस उद्यान को अकेली घूमकर देख आऊँ। बाद में तुम से भी ऐसा ही करने को कहूँगी। बोलो, इस क्रीड़ा में तुम्हें भय तो नहीं होगा ?”

“मेरा नाम अभय है। अभय उसको कहते हैं जिसमें भय नहीं होता। तुम जाओ। मैं यहीं बैठा हूँ।”

यह वहो उद्यान था जिसमें चन्द्रमित्रा और उपशान्ता रहती

थीं। वृक्षों की घनी छाया होने के कारण भवन नहीं दिखाई पड़ रहा था। अभय को यह सब कुछ भी ज्ञात न था। वह तो यही समझे हुए था कि इस उद्यान में कोई रहता ही नहीं है। उसने जैसे ही जाने के लिए कहा वैसे ही सुनेत्रा चलने को प्रस्तुत हो गई। चलते समय इतना अवश्य कह गई, “यह उद्यान भयंकर है। बौद्ध जिसे अन्तराभव कहते हैं और साधारण लोग जिसे प्रेत कहते हैं वह इसमें अवश्य पाया जाता है। यदि दुर्भाग्य से स्त्री या पुरुष भेष में कोई प्रेत या अन्तराभव दृष्टिगोचर हो तो शान्तभाव से भगवान् बुद्ध का या किसी अपने इष्ट-देवता का नाम ले लेना। यदि भागने की चेष्टा करोगे या चिल्लाना चाहोगे तो प्रेत तुम्हारे जीवन का अन्त कर देगा। लो, ये सात गोलियाँ—प्रेत को देखते ही सातों मुख में रख कर निगल जाना और शान्तभाव से दूर्वादल पर लेट जाना। फिर कोई बाधा तुम्हारे पास नहीं आयगी। इतने पर भी यदि तुम्हारा हृदय भय खा रहा हो, तो मैं बैठती हूँ, तुम अकेले जाकर इस उद्यान की परिक्रमा कर आओ।”

सुनेत्रा की दी हुई सातों गोलियों को मुख में रखकर अभय निगल गया और वहीं धरती पर लेटते हुए बोला, “भव-भय-निवारिणी गोलियों को खाकर मैं तो अब शयन करता हूँ। तुम जाकर उद्यान की परिक्रमा कर आओ।”

“तुम बड़े समझदार हो। इसी समय गोलियों को निगल गये। अच्छी बात है। अब मैं जा रही हूँ।” इतना कर सुनेत्रा इधर उधर चक्कर काटती हुई चन्द्रमित्रा के भवन के द्वार पर

पहुँच गई। वहाँ पर पहुँचते ही सुमना और सुनन्दा से भेंट हो गई। उन दोनों को देख कर वह विशेष रूप से प्रसन्न हुई और उन दोनों से कहने लगी, “मैं अपना कार्य समाप्त कर आई हूँ।”

सुनेत्रा की इन बातों को सुन कर सुमना ने कहा, “जयसेन को साथ लेकर मैं भी आ गई हूँ।”

सुनन्दा ने कहा, “कदाचित् तुम दोनों यही समझती होगी कि सुनन्दा ने कुछ भी नहीं किया। मैंने तो वह काम किया है कि दूसरा कोई क्या करेगा? यदि सुनना चाहो तो मैं कह चलूँ।”

सुनेत्रा ने कहा, “मेरा कार्य जितना कठिन था उतना किसी का क्या होगा? चन्द्रमित्रा ने जिस प्रकार सिखाया, मैंने उसी प्रकार साहस किया। धर्ममहामात्र और उसका सेवक दोनों ही चिरकाल के लिए सो गये हैं। अब सुनन्दा के कार्य को मैं सुनना चाहती हूँ।”

सुनन्दा ने कहा, “चन्द्रमित्रा ही मेरे कार्य का वर्णन करेंगी। मैं नहीं चाहती कि अपने ही मुख से अपनी प्रशंसा करूँ। यदि सेनापति पुण्यमित्र को राजा बनाने के लिए प्रजा सहमत न हुई तो समझ लेना चाहिए कि मैंने कुछ भी नहीं किया है। राज्य की सीमा के भीतर प्रजा मात्र को मैंने ऐसा समझा दिया है कि वह चाहती ही नहीं कि मौर्यराज बृहद्रथ अधिक दिन तक जीवित रहें। प्रजा चाहती है परिवर्तन और परिवर्तन के साथ अपने अनुकूल शासक। प्रजा का विचार है कि राजा वह हो जिसे जनता अपनी इच्छा से निर्वाचित कर ले। इन

सब भावनाओं को जाग्रत करने का जो प्रयत्न किया गया है वह सब मेरा ही कार्य है ।”

सुनेत्रा ने प्रशंसा करते हुए कहा, “निस्सन्देह तुम्हारा कार्य अधिक दुस्साध्य था । परमात्मा को कोटि कोटि धन्यवाद है जिसकी असीम कृपा से तुम अपने को सफल समझ रही हो ।”

सुमना ने उसी प्रकार प्रशंसा करते हुए कहा, “अमात्य ब्रह्मदेव की सुपुत्री का विदुषी होना यहीं पर सार्थक हुआ ! चन्द्रमित्रा की विशेषता तो यही है कि उपयुक्त कार्य के लिए उपयुक्त गुणों से युक्त व्यक्ति को ही आगे बढ़ाया है तभी तो ऐसी आशातीत सफलता दृष्टिगोचर हो रही है । मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि यदि चन्द्रमित्रा सहायता न करतीं, तो कहीं कुछ न होता ।”

सुनन्दा - “मैं तुम्हारे इस कथन का समर्थन करने को सहर्ष प्रस्तुत हूँ ।”

सुमना, सुनन्दा और सुनेत्रा परस्पर बातें कर रही थीं कि इतने में भवन का द्वार खुल गया । उन सबों के सामने आकर उपशान्ता ने कहा, “देवी चन्द्रमित्रा तुम सबों को स्मरण कर रही हैं ।”

इतना सुनते ही सब की सब चन्द्रमित्रा के समीप पहुँच गईं । आदर-पूर्वक उन सबों को उचित आसन पर बैठाते हुए चन्द्रमित्रा ने एक एक करके सब का सारा वृत्तान्त सुना । सुनेत्रा ने जिस समय प्रधान मंत्री तथा धर्ममहामात्र के संवाद को कह सुनाया, उस समय चन्द्रमित्रा ने केवल इतना ही कहा,

“मौर्यराज बृहद्रथ के जिस आदेश को प्रधान मंत्री ने धर्ममहामात्र से कहा है उसका परिणाम विपरीत ही होगा। तुम सब विश्राम करो। मैं अभी जाकर सेनापति पुष्यमित्र से यह सब वृत्तान्त कहे आती हूँ और मेरे पास अजित ने जो संवाद कहला भेजा है उसका भी सारांश बतला देना आवश्यक है। सुना जाता है कि कुक्कुटाराम के संकेत से कुछ भिन्न गुप्त रीति से इधर उधर ब्राह्मण तथा वैदिक धर्म की निन्दा करते हुए विचरण करने लगे हैं। सब से अधिक तो दुःख मुझे इस बात का हो रहा है कि मौर्यराज बृहद्रथ स्वयं सेना को सम्हालने का प्रयत्न करने जा रहे हैं। जिसकी जैसी बुद्धि है वह वैसा ही सोचता है। मैं अपना काम जाकर किये आती हूँ। सेनापति पुष्यमित्र जैसा उचित समझेंगे वैसा स्वयं करेंगे।”

जिस भेष में राजलक्ष्मी का स्वरूप धारण कर चन्द्रमित्रा बन्दीगृह से जयसेन को छुड़ाने गई थी, उसी भेष को उसने धारण कर लिया। कुछ दूर तक सुमना, सुनन्दा तथा सुनेत्रा उसके साथ गईं, फिर सबों ने उसका साथ छोड़ दिया। सुनेत्रा के कहने पर सुमना तथा सुनन्दा उस स्थान पर गईं, जिस स्थान पर अभय अचेत पड़ा हुआ था। सुनेत्रा ने उसे जिन गोलियों को निगल जाने के लिए दिया था, वे सब विष की गोलियां थीं। गोलियों ने अभय के प्राणों को ही समाप्त कर दिया। अभय को क्या पता कि वह कब सोया और कब मरा ?

उन तीनों ने अभय के मृत शरीर को उठा लिया और

राजमार्ग से कुछ दूरी पर स्थित एक दूसरे उद्यान में ले जाकर फेंक दिया। इसके बाद वे सब चन्द्रमित्रा के भवन में आ गये।

उन सबों के आने ही उपशान्ता ने पूछा, “अब तुम सबों का कार्यक्रम क्या है ?”

सुमना ने कहा, “जैसा आप या चन्द्रमित्रा हम सबों को बतलायेंगी।”

उपशान्ता ने कहा, “चन्द्रमित्रा तो कह रही थीं कि तुम सबों का कार्य इतना ही था।”

सुनन्दा ने कहा, “मेरा विचार पुनः प्रजा-मात्र को समझाने का हो रहा है।”

उपशान्ता — “जब प्रजा एक बार कहने पर किसी विषय को नहीं समझती, तो उससे उसी विषय को लेकर बारम्बार कहने से कोई लाभ नहीं है। फिर तुम जैसा उचित समझो।”

सुनेत्रा ने कहा, “मुझे तो हत्या करने का कार्य सौंपा गया था। यदि ऐसा ही और कोई हत्या करने वाला कार्य होगा तो वह भी मुझे ही सौंपा जायगा। जब एकबार सफलता मिल चुकी है तब अब डरने की कोई बात नहीं है। मैं सहर्ष अपने कर्त्तव्य का पालन करूँगी।”

उपशान्ता ने कहा, “जब ऐसे ही विचार प्रजा मात्र के हो जाते हैं तब राजा के लिए सङ्कटकाल उपस्थित हो जाता है। तुम सबों की यह साधना सफल होकर रहेगी।”

सुनेत्रा ने प्रसन्न होकर कहा, “मैं आपसे ऐसे ही आशीर्वाद की प्रतीक्षा कर रही थी।”

सुनन्दा ने कहा, “देवी उपशान्ता के चरणों की धूलि ही हमें सफल बनायेगी।”

— — —

२६

अन्तर्गृह में बैठे हुए जयसेन और पुष्यमित्र बातें कर रहे थे कि इतने में प्रहरी ने आकर सूचित किया कि राजलक्ष्मी द्वार पर उपस्थित हैं। सेनापति पुष्यमित्र के आदेश से सेवक राजलक्ष्मी को ले आया। उचित आसन पर बैठकर चन्द्रमित्रा ने निवेदन किया, “सुनेत्रा अपना कार्य समाप्त कर चुकी है। उसने यह भी सूचित किया है कि मौर्यराज बृहद्रथ आगामी वर्ष से सेनापति के पद को स्वयं ग्रहण करेंगे और आपको इसकी सूचना शीघ्र ही भेजनेवाले हैं।”

चन्द्रमित्रा की बातों को सुनकर पुष्यमित्र ने कहा, “मैं अभी एक पत्र बृहद्रथ के नाम लिख रहा हूँ। तुम स्वयं जाकर उसे दे आओ। यदि इतना कर सकांगी तो कार्य की सफलता में सुन्दरता आ जायगी। आशा है कि इस दुस्साहसपूर्ण कार्य में तुम अवश्य अपनी प्राकृतिक बुद्धि का सदुपयोग करोगी?”

चन्द्रमित्रा ने कहा, “मेरे साथ जयसेन को भी चलना होगा अन्यथा काम नहीं बनेगा।”

पुष्यमित्र ने कहा “तुम्हारे साथ जयसेन के जाने से नया संकट उपस्थित हो जायगा।”

चन्द्रमित्रा ने समझाते हुए कहा, “जहाँ तक जयसेन की

रक्षा का प्रश्न है वहाँ तक आप निश्चिन्त रहें। मैं एक नया उपाय सोचकर उसे काम में लाना चाहती हूँ।”

पुष्यमित्र—“वह उपाय किस प्रकार का है?”

चन्द्रमित्रा—“मैं इस समय बतलाने में असमर्थ हूँ। बस, आप इतना प्रबंध कर दीजिए कि जयसेन मेरे साथ बृहद्रथ के राजप्रासाद तक जा सके।”

पुष्यमित्र—“अच्छी बात है। जयसेन तुम्हारे साथ जायगा।”

चन्द्रमित्रा—“अब आप यथाशीघ्र पत्र लिखें क्योंकि रात्रि में ही सब कार्य करना है।”

यह सुनकर सेनापति पुष्यमित्र तुरन्त पत्र लिखने लगा। पत्र समाप्त करके उसने कहा, “मैंने इस प्रकार लिख दिया है,
सेना-निवास, पाटलिपुत्र

आश्विनी शुक्ल ११ सम्बत् ३५६ बौद्धीय

मैंने राजलक्ष्मी के दर्शन किये। देखा वे मुझसे अत्यधिक अप्रसन्न हैं। भयभीत होकर मैं उनके चरणों पर नत-मस्तक हो गया। उन्होंने मेरा तिरस्कार किया और कहा कि ‘मौर्यराज बृहद्रथ को यदि सेनापतित्व नहीं प्रदान करते तो तुम्हारा कल्याण नहीं होगा। अतएव मैं यह पत्र सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ। कदाचित् राजलक्ष्मी आपकी ही इष्ट देवी हैं। इनकी इच्छा है कि आप कल सेनानिवास में आकर मुझसे समस्त भार ले लें। मैं राजलक्ष्मी की आज्ञा का उल्लंघन करने में असमर्थ हूँ। अस्तु—

पद परिवर्तनाभिलाषी

पुष्यमित्र

मेरी समझ में जितना मैंने लिख दिया है, कार्य साधन के लिए पर्याप्त है।”

चन्द्रमित्रा ने कहा, “पद परिवर्तनाभिलाषी शब्द का प्रयोग यथार्थता का प्रतिपादक है।”

जयसेन ने प्रश्न किया, ‘यह शब्द किस प्रकार यथार्थता का प्रतिपादन करता है?’

चन्द्रमित्रा—“यदि आप सेनापति का पद ग्रहण करना चाहते हैं तो मैं राजा का पद ग्रहण करना चाहता हूँ। यदि आप ऐसा करने को प्रस्तुत नहीं है तो कदापि सेना-निवास में न पधारें। यदि आप मुझसे शक्ति का प्रयोग करते हुए मेरे पद को ग्रहण करेंगे तो मैं भी वैसा ही करूँगा।”

जयसेन ने प्रसन्न हो कर कहा, “वह अदूरदर्शी इस सूक्ष्म अर्थ को नहीं समझ सकेगा।”

पुष्यमित्र—“जितना ही वह न समझे उतना ही अच्छा है।”

चन्द्रमित्रा ने पत्र को ले लिया और जयसेन से कहा, ‘तुम शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर तुरन्त आ जाओ। आत्मरक्षा के लिए उचित प्रबन्ध अवश्य कर लेना चाहिए।”

अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर जयसेन तुरन्त चलने को प्रस्तुत हो गया। चलते समय चन्द्रमित्रा ने पुष्यमित्र से कहा,

“मैं सूर्योदय के पूर्व ही लौट आऊँगी। आप निश्चिन्त रहें।”

इतना कहकर चन्द्रमित्रा जयसेन को साथ लेती हुई राज-लक्ष्मी के भेष में राजमार्ग पर आ गई। थोड़ी दूर जाने के बाद वह रुक गई और जयसेन से कहने लगी, “मैं तुमसे एक प्रश्न करना चाहती हूँ। यदि उत्तर देने में संकोच न करो, तो मैं थोड़ा सा साहस करूँ।”

जयसेन ने साहस करते हुए कहा, “आपके प्रश्न का उत्तर मैं अवश्य दूँगा। आप प्रश्न करें।”

चन्द्रमित्रा—“यदि हम लोग अपने पड़यंत्र में सफल हुए और मौर्यराज बृहद्रथ का अन्त हो गया तो हमारा भविष्य कैसा रहेगा ? क्या तुमने कभी इस पर विचार किया है ?”

जयसेन—“अभी आपका प्रश्न स्पष्ट नहीं है।”

चन्द्रमित्रा—“मैं यह जानना चाहती हूँ कि सुमना, सुनन्दा, सुनेत्रा, उपशान्ता, तथा मेरा भाग्य किस प्रकार का होगा—यह तुमने कभी सोचा है या नहीं ?”

जयसेन—“यह सब एक प्रकार निश्चित भी हो चुका है। तभी तो इतना प्रयत्न किया जा रहा है। यदि आशा बलवती न होती तो इतना उत्साह किस प्रकार होता ?”

चन्द्रमित्रा—“किसने निश्चित किया ?”

जयसेन—“सेनापति पुष्यमित्र ने।”

चन्द्रमित्रा—“क्या निश्चित किया है ?”

जयसेन—“मुझे सेनापति का पद दिया जायगा।”

चन्द्रमित्रा—“और अजित को ?”

जयसेन—“उसे बौद्ध धर्म की संस्थाओं का संरक्षक बनाया जायगा ।”

चन्द्रमित्रा—“ब्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि को ?”

जयसेन—“वे सेनापति पुष्यमित्र के राजा होने पर प्रधान मन्त्री बनाये जायँगे ।”

चन्द्रमित्रा—“क्या वे इस पद को ग्रहण करना स्वीकार करेंगे ?”

जयसेन—“स्वीकार करें या न करें किन्तु उनसे यही कार्य लिया जायगा । जहाँ तक राज्य-संचालन में मन्त्रणा का विषय है उसमें पतंजलि का स्थान सर्वमान्य होगा ।

चन्द्रमित्रा—“वर्तमान प्रधान मन्त्री को पदच्युत करना अनुचित होगा ।”

जयसेन—“प्रधान मन्त्री का पद और मन्त्रणा का विषय दोनों समान नहीं हैं । प्रधान मन्त्री वेतन का भोग करेगा और पतंजलि अवैतनिक रूप से कार्य संचालन करेंगे । इतना धुरन्धर विद्वान् अपने को वेतन के बन्धन से मुक्त रखकर कार्य सम्पादन करेगा । मेरे कथन का सारांश यह है कि पतंजलि से मन्त्रणा किये बिना कोई कार्य नहीं किया जायगा ।”

चन्द्रमित्रा—“प्राङ्गविवाक के पद पर कौन नियुक्त किया जायगा ?”

जयसेन—“जो वर्तमान में है, वही रहेगा । शासन तथा न्याय मनुस्मृति के अनुसार होगा ।”

चन्द्रमित्रा—“उपशान्ता का क्या होगा ?”

जयसेन —“अजित के साथ उसका विवाह कर दिया जायगा ।”

चन्द्रमित्रा—“सुनेत्रा के साथ किसका विवाह होगा ?”

जयसेन—“जिसके साथ आप उचित समझेंगी ।”

चन्द्रमित्रा—“मेरे समझने से होता क्या है ? जो निश्चित हुआ होगा वही होकर रहेगा । मैं तो बस इतना जानना चाहती हूँ कि क्या निश्चित हुआ है ?”

जयसेन ने कहा, “सुनेत्रा, सुमना तथा सुनन्दा इन तीनों के विषय में आपकी सम्मति जैसी होगी, वही स्वीकार की जायगी । आप तो स्वयं राजलक्ष्मी बनी हुई हैं । ईश्वर चाहेगा तो इस समय का यह नामकरण सत्य होकर ही रहेगा । यदि पुण्ड्रमित्र राजा होते हैं तो आपके राजलक्ष्मी होने में कोई सन्देह नहीं है —यह भी मैंने गुप्त रूप से सुना है ।”

चन्द्रमित्रा ने प्रसंग को बदलते हुए कहा, “बिलम्ब हो गया है, शीघ्र चलना चाहिए ।”

शीघ्रता के साथ दोनों राजमार्ग पर चलने लगे । चलते चलते राज-प्रासाद के प्रवेश द्वार पर आ गये । प्रहरी सो रहा था । जयसेन ने उसे जगाया और कहा, “क्या तुम इसी प्रकार अपने सभी कर्तव्यों का पालन किया करते हो ? जानते हो कि मैं कौन हूँ ?”

उसने नम्रतापूर्वक कहा, “आप मेरे अभद्रादाता हैं । क्या कोई अपने अभद्रादाता को भूल जाता है ?”

जयसेन—“राजलक्ष्मी बृहद्रथ से रुष्ट हो चुकी हैं । किसी

प्रकार मैं मना कर लाया हूँ। यदि इनका प्रवेश राज-प्रासाद में न हुआ तो कल संध्या तक राज्य उलट जायगा।”

इतना सुनते ही प्रहरी चौंक पड़ा। उसने तुरन्त प्रवेश-द्वार को खोल दिया। जयसेन ने उससे कहा, “मैं तुम्हारे स्थान पर खड़ा रहूँगा। तुम राजलक्ष्मी को मौर्यराज बृहद्रथ के समीप पहुँचा आओ और जब तक ये न लौटें या कोई विशेष बात न हो तब तक वहीं कहीं छिपे रहना। यदि राजा राजलक्ष्मी को प्रसन्न न कर सके तो फिर सेनापति पुष्यमित्र के समीप ले जाऊँगा। मैं यह नहीं चाहता कि पाटलिपुत्र के मौर्यवंश की राजलक्ष्मी पाटलिपुत्र को छोड़ कर कहीं अन्यत्र जाय।”

सरल स्वभाव का प्रहरी जयसेन के प्रभाव में आ गया। वह चन्द्रमित्रा को अपने साथ लेता और मार्ग दिखाता हुआ चलने लगा। चलते चलते चन्द्रमित्रा ने उससे कहा, “तुम कितना वेतन पाते हो? पाँच पण मासिक पाते हो या इससे अधिक पाते हो?”

‘नम्रता के साथ उत्तर देते हुए प्रहरी ने कहा, पाँच पण मासिक पाता हूँ।”

पचास पण देती हुई चन्द्रमित्रा बोली, “मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। लो ये पचास पण।”

पचास पण पाकर उस प्रहरी की प्रसन्नता अपनी सीमा को पार कर गई। वह तुरन्त उसे वास्तविक राजलक्ष्मी समझ कर उसके चरणों पर गिर पड़ा और हाथ जोड़ कर बोला, “अब आप इसी प्रासाद में रहें! अन्यत्र कहीं न जाँय। आपकी सेवा के

लिए हम सब सेवक उपस्थित हैं।”

चन्द्रमित्रा ने उदासी का भाव दिखाते हुए कहा, “मैं तुम्हारे राजा से अप्रसन्न हूँ।”

प्रहरी ने कहा, “आपके अप्रसन्न होने का कारण क्या है?”

चन्द्रमित्रा—“तुम्हारा राजा न तो राजधर्म जानता है और न प्रजा का पालन करना ही जानता है। ऐसे राजा के यहाँ रह कर मैं कलंकनी होना नहीं चाहती। मैं तुमसे इतना प्रसन्न हूँ कि इस समय तुम जो कुछ चाहो दे सकती हूँ किन्तु तुम्हारे राजा के यहाँ रहना स्वीकार नहीं कर सकती।”

प्रहरी ने कहा, “आप सेनापति पुष्यमित्र को किस प्रकार का पुरुष समझती हैं?”

चन्द्रमित्रा—“जैसा अधर्मी राजा है वैसा अधर्मी सेनापति भी होगा।”

प्रहरी ने कहा, “यहाँ पर आप भूल कर रही हैं। सेनापति पुष्यमित्र के सेना-निवास में कोई भी दुःखी नहीं है। साधारण से साधारण कर्मचारी से लेकर ऊँचे से ऊँचे कर्मचारी तक सभी सेनापति पुष्यमित्र के व्यवहार से प्रसन्न हैं। यदि ऐसा ही प्रबन्ध मौर्यराज का होता तो कितना अच्छा होता!”

चन्द्रमित्रा—“मैं सर्वप्रथम राजा से मिल लूँ फिर सेनापति पुष्यमित्र को भी टटोलती हूँ।”

धीरे-धीरे चन्द्रमित्रा मौर्यराज बृहद्रथ के शयनागार तक पहुँच गई। शयनागार का द्वार खुला हुआ था। वह उसमें प्रवेश कर गई। शान्तभाव से जाकर एक आसन पर बैठ गई। बृहद्रथ निद्रा में अचेत था। थोड़ी देर के बाद उसने सेनापति के पत्र को उसके समीप रख दिया और धीरे-धीरे अपने आभूषणों को उतारने लगी। उसके जितने आभूषण थे सभी में पुष्यमित्र का नाम अंकित था। सहसा बृहद्रथ की नींद टूट गई। वह उठकर बैठ गया।

अपने शयनागार में एक सुन्दरी स्त्री को देखकर वह आश्चर्य में पड़ गया। चन्द्रमित्रा ने उसकी ओर दृष्टिपात भी न किया। वह अपने आभूषणों को उतार उतारकर पटक रही थी। ऐसा उसका यह कृत्य देखकर बृहद्रथ खड़ा हो गया और उसके समीप आकर बोला, “आप इतने मूल्यवान आभूषणों की ऐसी दुर्गति क्यों कर रही हैं? इतनी रात में मेरे इस शायनागार में आनेवाली आप कौन हैं? देवी हैं या मानवी? स्वर्ग लोक की अप्सरा हैं या गन्धर्वलोक की विद्याधरी हैं? वैदिक, धर्म की गायत्री हैं या वैदिक छन्दों की सरस्वती हैं? भगवान बुद्ध की प्रतिभा हैं या जैन धर्म की अहिंसा है? हमारे पूर्व पुरुष चन्द्र-गुप्त की कीर्ति हैं या सम्राट् अशोक की शक्ति हैं? धर्ममहामात्र

की विशेष कृपा हैं अथवा पतंजलि की क्षमा की प्रतिमूर्ति हैं ? इस मौर्य राजवंश की प्रतिष्ठा हैं अथवा सेनापति पुष्यमित्र की कोई कूटनीति हैं ? आप वास्तव में हैं कौन और मेरे इस शयनागार में आने का उद्देश्य क्या है ? आप बतलाने की कृपा करें ?”

चन्द्रमित्रा ने कुछ भी उत्तर न दिया । जितने आभूषण थे सभी को उतारकर इधर-उधर फेंक दिया । बृहद्रथ की जो तलवार टँगी हुई थी उसे लेकर कहा, “तेरा राजमुकुट कहाँ है ? यदि नहीं देता तो मैं तेरे लिए तुरन्त मृत्यु का रूप धारण करती हूँ ।”

भयभीत होकर बृहद्रथ ने कहा, “मैं राजमुकुट अभी लाये देता हूँ ? किन्तु आप इतना क्रुद्ध क्यों हो रही हैं ? मैंने आपकी सेवा में कौन सा अपराध किया है ?”

उसी प्रकार क्रुद्ध होने का भाव दिखाती हुई चन्द्रमित्रा ने कहा, “तू नास्तिक है यही तेरा अपराध है । राजा होकर भी तूने मेरा तिरस्कार किया है । मैं राजलक्ष्मी हूँ । मेरे जितने आभूषण थे सभी में पुष्यमित्र का नाम अंकित है—यह किसका अपराध है ? मेरे आभूषणों में उसीका नाम अंकित रहता है जो राजा होने की योग्यता रखता है । मैं सेनापति पुष्यमित्र से घृणा करती हूँ—उसके नाम से भी घृणा करती हूँ और तू उसे सेनापति बनाये हुए है ? वह न जाने किस देवी की उपासना कर रहा है । देख, मेरे सभी आभूषणों में उसीका नाम अंकित है । एक भी आभूषण में तेरा नाम नहीं है । मेरे लिए ये आभू-

पण त्याज्य हो चुके हैं। तू राजा कहाता ह। ये सब आभूषण तेरे ही वंश के हैं इसीलिए मैं इन्हें तुझे सौंपने आई हूँ। राज-मुकुट मेरा है। उसे मुझे दे दे। जब तू सेनापति से सेनापतित्व ले लेगा तब मैं तुझे यह राजमुकुट अपने हाथों पहिना दूँगी जिससे कि मेरे और तेरे गौरव तथा सम्मान में कलंक न लगे।”

बृहद्रथ ने पड़े हुए आभूषणों को उठा उठा कर देखना आरंभ किया और प्रत्यक्ष देखा कि राजलक्ष्मी का कथन सत्य है। उसे उसकी बातों पर पूर्ण विश्वास हो गया। उसने उससे नम्रता पूर्वक कहा, “मैं अभी राजमुकुट लाये देता हूँ।” इतना कहकर बृहद्रथ समीप के प्रकोष्ठ में गया और तुरन्त राजमुकुट उसे अर्पण करते हुए कहा, “मैं कल तक सेनापति को राज्य से अवश्य दूर कर दूँगा। आप इस समय मुझे क्षमा करें। क्योंकि इस समय मैं रात्रि के कारण असमर्थ हूँ। आशा है कि कल आप सेना-निवास में अवश्य दर्शन देने की कृपा करेंगी।”

पलंग पर पड़े हुए पत्र की ओर संकेत करके चन्द्रमित्रा ने बृहद्रथ से कहा, “वह देख, सेनापति का पत्र तेरे पास पड़ा हुआ है। तेरे मंत्री धूर्त हैं, तेरे प्राड्विवाक कपटी हैं, तेरा अधर्मी धर्ममहामात्र अपने जीवन को समाप्त कर चुका है। राजद्रोही जयसेन तेरे राजप्रासाद के द्वार देश पर खड़ा हुआ है और तू पड़ा सो रहा है। मूर्ख! मैं सत्य कहती हूँ कि तू राजा होने के योग्य नहीं है।”

सेनापति के पत्र को पढ़ कर बृहद्रथ ने उसे एक किनारे रख दिया। चन्द्रमित्रा ने उसी प्रकार कहा, “तू इसी समय

इसका उत्तर लिख । मैं तो रात्रि में ही समस्त कार्य करती हूँ । दिन होते होते मैं तेरे कोषागार में बंद हो जाती हूँ । यदि न बन्द रहूँ तो तेरा राज्य ही पलट जाय । मैं जैसा कहती हूँ वैसा तू लिख अन्यथा तेरा अनिष्ट अवश्य होगा । ऐसे संकट के समय में प्रधान मंत्री से परामर्श करना व्यर्थ है ।”

“आप जैसा कहेंगी वैसा लिखने को मैं तैयार हूँ ।” कहकर बृहद्रथ लिखने बैठ गया ।

चन्द्रमित्रा ने कहा, “लिख ।

दुष्ट सेनापति पुष्यमित्र !

तेरी उद्वेगता के कारण मैं और राजलक्ष्मी दोनों ही अप्रसन्न हूँ । तू इस योग्य नहीं कि अधिक समय तक तेरे ऊपर सेनापतित्व का उत्तरदायित्व छोड़ रखा जाय । तेरे लिए आदेश होता है कि कल अपराह्न बेला में तू अपने पद का त्याग कर दे और मौर्यराज के शासन से मुक्त हो जा । मैं तब तक सेनापतित्व को भी ग्रहण कर लूँगा जब तक कि किसी योग्य सेनापति की नियुक्ति नहीं होती । यदि तू इस आदेश का उल्लंघन करेगा तो तेरे हित में अच्छा न होगा । राज्य-हित के लिए मेरे लिए ऐसा करना आवश्यक है ।

हस्ताक्षर— बृहद्रथ

राजप्रासाद, पाटलिपुत्र

आश्विन शुक्ल ११, सम्बत ३५६ बौद्धीय

इतना लिखते ही प्रहरी ने आकर सूचना दी कि जयसेन आया हुआ है । बृहद्रथ ने उससे कहा, “तुम तुरन्त उसे बंदी

कर लो। राजद्रोही का इस प्रकार स्वतंत्र रहना इष्ट नहीं है।”

जयसेन तुरन्त बन्दी बनाकर उपस्थित किया गया। उसे देखते ही बृहद्रथ ने उससे प्रश्न किया, “क्या तुम्हारा ही नाम जयसेन है ?”

जयसेन ने अपने मस्तक को झुकाते हुए कहा, “अन्नदाता को यही सत्य समझना चाहिए।”

बृहद्रथ—“तो यह सत्य है कि तुम्हीं राजद्रोही जयसेन हो।”

जयसेन—“यदि मैं राजद्रोही होता तो इस प्रकार क्षमा-याचना के लिए क्यों आता ?”

बृहद्रथ—“तुम इतने दिन किस स्थान पर छिपे रहे ?”

जयसेन—“धर्ममहामात्र के भवन में। यदि उनकी कृपा न होती तो मैं कब मृत्यु को प्राप्त कर चुका होता। मैंने सुना है कि अन्नदाता सेनापति का पद ग्रहण करने जा रहे हैं इसलिए मैं अपना सेनापति समझ कर आपसे मिलने चला आया हूँ। जयसेन अपराधी है तो मौर्यराज बृहद्रथ का किन्तु भावी सेनापति बृहद्रथ का कृपापात्र होने का अधिकार सर्वदा रखता है। यदि आप अपने एक सैनिक की रक्षा नहीं कर सकते तो फिर आप सेना को नहीं सम्हाल सकेंगे। राजपद से सेनापति का पद अधिक उत्तरादायित्व पूर्ण माना जाता है।”

जयसेन की बातों को सुनकर चन्द्रमित्रा ने उससे कहा, “मैं मौर्यवंश की राजलक्ष्मी हूँ। तुम्हारी बातों से मैं अधिक

प्रसन्न हूँ। तुम्हारे लिए मेरा आदेश है कि जब तक बृहद्रथ तथा पुष्यमित्र का पारस्परिक संघर्ष दूर नहीं होता तब तक तुम मेरे साथ रहो।”

इतना कहकर चन्द्रमित्रा ने बृहद्रथ से कहा, “तू इसे स्वीकार करता है या नहीं?”

बृहद्रथ ने कहा, “आप की प्रत्येक बात मुझे मान्य है। राज्य तो आप का है। मैं तो सेवक मात्र हूँ।”

“मैं राजमुकुट तथा तलवार लिये जा रही हूँ। कल अपराह्न वेला में सेना निवास में तेरा पधारना और उस दुष्ट सेनापति से सेनापति के पद को ग्रहण करना आवश्यक है। इसे स्मरण रख। मैं जाती हूँ।”

अपने सभी आभूषणों को वहीं पर छोड़ कर चन्द्रमित्रा जयसेन के साथ राजमुकुट तथा तलवार लिये हुए चली गई। राजप्रासाद के प्रवेश द्वार में पहुँच कर पचास पण प्रहरों का फिर दिये और धीरे धीरे वहाँ से चलकर राजमार्ग पर आई।

राज मार्ग पर आते ही वे दोनों शीघ्रातिशीघ्र चलने लगे।

चलते चलते सेनापति पुष्यमित्र के अन्तर्गृह के पास आ गये। प्रहरी ने तुरंत प्रवेश द्वार को खोल दिया। भीतर प्रवेश करते ही देखते हैं कि पुष्यमित्र उन दोनों की प्रतीक्षा में बैठा हुआ है। उसके पास जाते ही चन्द्रमित्रा ने राजमुकुट, खड्ग तथा बृहद्रथ के पत्र को उसे दे दिया। इसके बाद वह एक आसन पर बैठ गई।

पत्र को पढ़ कर पुष्यमित्र ने प्रसन्नता प्रकट की और समस्त

वृत्तान्त क्रमशः सुनने को उत्सुक हो गया। संक्षेप में चन्द्रमित्रा ने अपने समस्त नाटकीय कृत्य का कह सुनाया। सुन कर पुण्यमित्र ने कहा, “तुमने भी अपने कार्य को समाप्त किया। परमात्मा की कृपा होगी तो कल मैं भी इस समस्त नाटक की प्रधान अभिनेत्री को अपने हृदयासन पर बैठाने के योग्य पूर्ण सफलता के साथ अपना अन्तिम अभिनय चरितार्थ करूँगा। चन्द्रमित्रे ! पुण्यमित्र की जीवनी शक्ति तुम्हीं हो, यदि तुम्हारी सहायता न प्राप्त होती तो यह राजमुकुट मेरे हाथ न आता। जिसका प्रयत्न मुझे राज सिंहासन पर बैठाने का है यदि मैं उसे वैदिक धर्मानुसार अपने हृदयासन पर बैठाने का प्रयत्न करूँगा तो कदाचित्त वह तुम्हारे लिए असंतोष का कारण न होगा।”

इसका कुछ भी उत्तर न देकर चन्द्रमित्रा ने अपना मस्तक लज्जा के कारण झुका लिया। जयसेन ने पुण्यमित्र से कहा, “सुनन्दा, सुमना तथा सुनेत्रा के लिए आप ने क्या निश्चित किया है इसे देवी चन्द्रमित्रा जानना चाहती हैं। आशा है आप अपने निश्चय को बतलाने की कृपा शीघ्र करेंगे। इनकी इच्छा है कि आप अपने श्रीमुख से ही कह सुनायें।”

पुण्यमित्र ने प्रसन्न होकर कहा, “सुनेत्रा के साथ जयसेन का विवाह होगा। पतंजलि के साथ सुमना का विवाह होगा। प्रधान मंत्री के ज्येष्ठ पुत्र के साथ सुनन्दा का विवाह होगा। यही मेरा निश्चय है। यदि चन्द्रमित्रा इन प्रस्तावों या विचारों अथवा संकल्पों में कुछ परिवर्तन करना चाहती हों तो कर

सकती हैं। मुझे सब मान्य होगा।”

चन्द्रमित्रा ने प्रसन्न होकर कहा, “मैं पूर्ण रूप से सहमत हूँ। आज्ञा हो तो मैं अब अपने निवास स्थान को जाऊँ क्योंकि रात्रि का अवसान समीप है। ऊषा की छटा गगन-मंडल के नक्षत्रों पर अपना अधिकार करने के लिए कुछ कुछ प्रयत्नशील हो जाने लगी है। अतएव जिस प्रकार अभी तक कार्यक्रम चलता आ रहा है उसी प्रकार अन्त तक उसका निर्वाह होना आवश्यक है। अनुभव बतलाता है कि कभी कभी पार लगने वाली नौका तट पर आकर डूबती देखी गई है। इसलिए शान्त भाव से ही प्रगतिशील होने में कुशलता समझनी चाहिए।”

पुण्यमित्र ने जयसेन से कहा, “तुम निर्भीक होकर रहो। चन्द्रमित्रा को पहुँचा आओ। जितनी शीघ्रता हो सके तुरंत लौट आना। समस्त सैनिकों में इस बात की घोषणा कर देनी है कि कल से सेनापति के पद से पुण्यमित्र च्युत कर दिया जायगा और मौर्यराज बृहद्रथ स्वयं सेनापतित्व को भी सम्हालने का प्रयत्न करेंगे। लो यह बृहद्रथ का पत्र। जहाँ तक हो सके इसे समस्त सेना को दिखा देना और कहना कि अपराह्वेला में अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर सेना-निवास के प्रांगण में सभी उपस्थित रहें।”

प्रातः कृत्य से निवृत्त होकर जैसे ही पतंजलि अपने ग्रन्थालय में आये वैसे ही सुदेव और सुदत्त प्रणाम करते हुए उनके सम्मुख खड़े हो गये। उन दोनों को उचित आसन पर बैठाते हुए पतंजलि ने उनसे कुशल समाचार जानने की इच्छा प्रकट की। अपने कुशल समाचारों को बतलाते हुए सुदेव ने कहा, “भगवन् ! हम आपके समीप व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आये हुए हैं।”

सुदत्त ने कहा, “मेरे आगमन का उद्देश्य केवल इतना ही है कि मैं आपका कृपापात्र बन सकूँ।”

उन दोनों को समझाते हुए पतंजलि ने कहा, “व्याकरण का ज्ञान प्राप्त करना या कृपापात्र बनाना ये दोनों ऐसे कार्य हैं जिनके लिए श्रद्धा और अथक परिश्रम की आवश्यकता है।”

सुदेव ने नम्रता के भाव को प्रदर्शित करते हुए कहा, “यदि मुझमें श्रद्धा न होती तो मैं इस प्रकार आपको कष्ट देने का साहस न करता। जो दयालु होते हैं वे श्रद्धालु बना ही लेते हैं।”

उसी प्रकार सुदत्त ने भी कहा, “अथक परिश्रमी का आदर्श श्रद्धालु मनुष्यों में अथक परिश्रम की भावना उत्पन्न करके अथक परिश्रम करा ही लेता है। यदि मैं अथक परिश्रमी

न होता तो समस्त रात्रि के जागरण के बाद इतने प्रातः आकर उपस्थित न होता। आप की केवल कृपा भर होनी चाहिए।”

पतंजलि ने उन दोनों से प्रश्न किया, “आप दोनों के लिए जीविका के उपार्जन का साधन क्या है?”

सुदेव ने कहा, “राजलक्ष्मी की कृपा से जीविका का उपार्जन सरल हो गया है।”

सुदत्त ने कहा, “भगवन् ! रात्रि में राजलक्ष्मी का दर्शन मुझे भी प्राप्त हो जाता है।”

इतने में वहाँ राजदूत आ पहुँचा। उसने आते ही उन तीनों को प्रणाम किया और प्रश्न किया, “मैं व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि महोदय की सेवा में मौर्यराज बृहद्रथ की आज्ञा से उपस्थित हुआ हूँ। क्या आप सब महानुभाव यह बतलाने की कृपा करेंगे कि आप तीनों में से मेरे अभीष्ट सज्जन कौन से हैं?”

पतंजलि ने समादर पूर्वक स्वागत करते हुए आसन पर बैठाया और पूर्ण नम्रता के साथ उत्तर दिया, “आपको यहाँ तक आने में अवश्य कष्ट हुआ होगा। एतदर्थ मैं आपसे क्षमा प्रार्थना कर रहा हूँ।”

राजदूत ने उसी प्रकार नम्रता प्रदर्शित की और कहा, “आप व्यर्थ में मुझे लज्जित कर रहे हैं। मैं तो तुच्छातितुच्छ राज सेवक हूँ। जिधर जाने की आज्ञा प्राप्त होगी उधर ही जाना मेरे लिए अनिवार्य है। मेरा इस समय आपसे इतना

ही निवेदन है कि कृपया आप अपने आने का समय निश्चित कर दें।”

पतंजलि ने कहा, “मौर्यराज बृहद्रथ ने मुझे स्मरण किया है यह जान कर मैं आश्चर्य में पड़ गया हूँ। क्या मैं आपसे यह जान सकता हूँ कि मेरे स्मरण करने का वास्तविक प्रयोजन क्या है? जब तक मुझे यह न ज्ञात होगा तब तक मैं समय निश्चित नहीं कर सकता। यदि आपको न विदित हो तो आप जाकर भनीभाँति निश्चय कर आयें। न मैं किसी का समय व्यर्थ में नष्ट करता हूँ और न चाहता हूँ कि कोई आकर मेरे अमूल्य समय को व्यर्थ नष्ट करे। आप स्वयं समझदार हैं, मेरे अभिप्राय को समझ गये होंगे।”

उत्तर देते हुए राजदूत ने कहा, “मौर्यराज बृहद्रथ का आदेश केवल इतना ही है। अब आप जैसा उचित समझें वैसा निर्धारित करें। आपकी आज्ञा मेरे लिए मान्य होगी। मैं शीघ्र अपने प्रत्यावर्तन की इच्छा कर रहा हूँ।”

पतंजलि ने राजदूत से स्पष्ट कह दिया, “मौर्यराज बृहद्रथ से आप इतना ही जाकर कह दें कि पतंजलि को इस बात का आश्चर्य हो रहा है कि आपने उसी प्रकार अपने अन्तिम समय में स्मरण किया है जिस प्रकार नास्तिक संकटापन्न होने पर ईश्वर का नाम स्मरण कर लेता है। मेरे स्मरण करने का अभिप्राय यही है कि मैं संकट से उद्धार करा दूँ किन्तु खेद का विषय इतना ही है कि यह सामर्थ्य मुझमें नहीं है।”

इतना सुनते ही राजदूत ने प्रणाम किया और कहा, “मैं

जाकर इतना ही कहता हूँ कि व्याकरण के महाभाष्यकार पतंजलि की इच्छा है कि मौर्यराज बृहद्रथ के आमंत्रण का उद्देश्य ज्ञात हो जाना चाहिए।”

प्रसन्न होकर पतंजलि ने कहा, “आपकी वर्णयोजना तथा शब्द शैली सराहनीय है। मेरा चित्त आपसे अधिक प्रसन्न हो रहा है। आशा है कि आप पुनः दर्शन देने की कृपा अवश्य करेंगे।”

राजदूत ने उत्तर देते हुए निवेदन किया, “परमात्मा जिन्हें सौभाग्यशाली बनाता है वही, आपके शुभ दर्शनों के अधिकारी होते हैं। न जानें कितने राजपुरुष आपके दर्शनों के अभिलाषी हैं। जिस पर आप की कृपा हुई वह तुरन्त समाज के उच्च शिखर पर पहुँच गया और जिसके प्रति आपकी दृष्टि विपरीत हुई वह तुरन्त अपमानित होकर रसातल को चला गया। आप की महिमा अपार तथा विचित्र है।”

पतंजलि ने राजदूत से कहा, “आप अपना समय व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं! मौर्यराज बृहद्रथ आप की प्रतीक्षा अवश्य कर रहे होंगे। उनसे मिथ्याभाषण न कीजिएगा। स्पष्ट रूप से सब कह दीजिएगा।”

इतना सुनते ही राजदूत प्रणाम करता हुआ चला गया। उसके जाते ही सुदेव ने पतंजलि से कहा, “यह राजदूत विद्वान् तथा सज्जन था। मेरा चित्त इसके व्यवहार से प्रसन्न हो गया।”

सुदेव के इस कथन को सुनकर सुदत्ता ने कहा, “निस्सन्देह

यह राजदूत अत्यधिक सभ्य था ।”

पतंजलि ने साधारस ढँग से कहा, “मैं चाहता हूँ कि थोड़ा देर मौन धारण किये बैठा रहूँ।”

सुदेव ने सुदत्त से कहा, “ऐसी दशा में इस समय यहाँ से प्रस्थान करना उचित है।”

सुदत्त ने समर्थन करते हुए सुदेव से कहा, “मैं भी यही उचित समझ रहा हूँ।”

इस प्रकार परस्पर बातें करके दोनों ने पतञ्जलि को प्रणाम किया और वहाँ से चले गये । चलते-चलते दोनों प्राङ्ग्विवाक के भवने पर पहुँच गये । प्राङ्ग्विवाक ने दोनों का स्वागत किया और पूछा, “आप महानुभावों ने किस हेतु पधारने की कृपा की है ? शीघ्र सूचित कीजिए ताकि समुचित रूप से सेवा की जा सके । अभी-अभी समाचार प्राप्त हुए हैं कि मौर्यराज बृहद्रथ ने मुझे स्मरण किया है । मैं यथाशीघ्र वहाँ पहुँचना चाहता हूँ । यदि कोई विशेष कार्य न हो तो पुनः कष्ट करेंगे ऐसी आशा है ।

सुदेव ने कहा, “मैं तो केवल इसीलिए उपस्थित हुआ था कि आपका दर्शन प्राप्त कर लूँ।”

सुदत्त ने कहा, “मेरे उपस्थित होने का उद्देश्य कुछ स्वार्थ-साधन अवश्य था किन्तु समयाभाव के कारण इस समय व्यक्त करना व्यर्थ होगा । आदेशानुसार निकट भविष्य में पुनः आने का प्रयत्न करूँगा ।”

इस प्रकार वहाँ से चलकर सुदेव और सुदत्त प्रधान मंत्री के

भवन पर आये। विलम्ब तक बैठने के पश्चात् विदित हुआ कि वे राजप्रासाद गये हुए हैं। निराश होकर दोनों के दोनों धर्म-महामात्र के भवन पर आये। देखते हैं कि प्रवेश द्वार पर कोई नहीं है। सम्राटा छाया हुआ है। साहस करते हुए वे दोनों भीतर प्रवेश कर गये। चलते-चलते उस स्थान पर पहुँच गये जहाँ पर धर्ममहामात्र मृत अवस्था में पड़े हुए थे। भयभीत हो कर दोनों ही वहाँ से भाग निकले और भद्रसेन के यहाँ जाकर विश्राम करने लगे।

जब विश्राम कर चुके तब भद्रसेन को बुलाया और कहा, “सुनेत्रा के विवाह के लिए मैं एक स्थान पर बात कर आया हूँ। चलना हो तो मेरे साथ चलो।”

उन दोनों की बातों को सुनकर भद्रसेन ने उत्तर दिया, “सुनेत्रा मेरी होती ही कौन है?”

सुदेव—“उस दिन तो तुम्हीं ने बतलाया कि सुनेत्रा तुम्हारी पुत्री का नाम हैं।”

भद्रसेन ने विहँस कर कहा, “न मेरे पितामह के कोई संतान हुई और न मेरे पिता के हुई। ऐसी दशा में मेरे सन्तान किस प्रकार हो जायगी। अतएव तुम दोनों ही मूर्ख हो।”

सुदत्त ने गंभीर होकर कहा, “तुम्हारे पितामह ने कभी विवाह किया था अथवा नहीं?”

भद्रसेन—“सुना करता हूँ कि उन्होंने कभी विवाह नहीं किया।”

सुदत्त—“तुम्हारे पिता ने विवाह किया था अथवा नहीं?”

भद्रसेन—“एकबार ऐसा विचार भूल से अवश्य किया था किन्तु फिर पलट गये थे।”

सुदत्त—“तुमने विवाह किया है या नहीं?”

भद्रसेन—“मैं ऐसी भूल स्वप्न में भी करने को प्रस्तुत नहीं हूँ। तुम मूर्खता कराना चाहते हो।”

सुदत्त—“मूर्खता तुम कर रहे हो? इसका दण्ड तुम्हें अवश्य मिलेगा। भद्रसेन! तुमने इस समय ऐसी बातें की हैं जिनका सम्बन्ध राजद्रोह से है। राजद्रोही को प्राणदण्ड दिया जाता है।”

भद्रसेन—“यहाँ तो प्राण हैं ही नहीं फिर दण्ड का भय क्या है।”

सुदेव—“तुम्हारे प्राण हैं कहाँ पर?”

भद्रसेन—“सुनेत्रा के साथ-साथ मेरे प्राण भी चले गये हैं।”

सुदेव—“सुनेत्रा को तुम जानते हो अथवा नहीं?”

भद्रसेन—“जिस स्त्री के नेत्र सुन्दर और चित्त को प्रसन्न करने वाले हों उसी का नाम मैं सुनेत्रा रख देता हूँ। यदि ऐसी सुनेत्रा ला दो तो पाँच पण परितोषिक दूँगा। समझे?”

सुदेव ने भद्रसेन से कहा, “इतना तो मैं समझ गया कि सुनेत्रा से तुम्हारा अभिप्राय क्या है।”

भद्रसेन—“जब इतना समझ गये तब जाओ अपने मार्ग पर और मुझे अपना काम करने दो।”

सुदत्त ने कहा, “यह बात समझ में न आई कि तुम्हारे पिता और पितामह सन्तान हीन थे।”

भद्रसेन, “पितामह के कोई सन्तान न थी। मेरे पिता तो दत्तकपुत्र थे। इसी प्रकार मैं भी दत्तकपुत्र हूँ। तुम दोनों का मस्तिष्क अज्ञानता का भंडार छोड़कर और कुछ नहीं है।”

सुदत्त ने कहा, “तो क्या तुम्हारे पितामह या पिता ने विवाह नहीं किया ?”।

भद्रसेन, “मूर्खता भी तुम दोनों से हार गई होगी। तुम दोनों इतने मूर्ख हो कि इतना भी न समझ सके। यदि विवाह हुआ होता तो क्या सन्तान उत्पन्न न होती ? अवश्य होती। वही दशा मेरी भी है। न कोई सुनेत्रा मिलती है और न मेरा विवाह होता है। तीन पीढ़ियों से जैसा होता चला आ रहा है वैसा ही होता रहेगा। मेरे पितामह अविवाहित रहे, मेरे पिता अविवाहित रहे—ऐसी दशा में मुझे भी अविवाहित ही रहना पड़ेगा।”

इतने में सुदेव और सुदत्त ने समझ लिया कि भद्रसेन उन्हें मूर्ख बना रहा है। इसलिए वे दोनों वहाँ से उठे और राजमार्ग पर आकर खड़े हो गये। सुदेव ने सुदत्त से प्रश्न किया, “अब किधर चलना चाहिए। धर्ममहामात्र के यहाँ से इस प्रकार नहीं आना चाहिए था। उसका भवन तो शून्य पड़ा था। जितना धन चाहते ले आ सकते थे। उस समय व्यर्थ भयभीत हो गये।”

सुदत्त ने सुदेव से कहा, “पश्चात्ताप वहाँ किया जाता है जहाँ उपाय न चलता हो।”

सुदेव — “जितने उपाय थे सब समाप्त हो चुके हैं इसीलिए

* दत्तकपुत्र—गौद लिया हुआ पुत्र

तो पश्चात्ताप कर रहा हूँ ।”

सुदत्त—“जब तक वहाँ पर नहीं चलते तब तक पश्चात्ताप करना मूर्खता है ।”

सुदेव—“अदूरदर्शिता का ही दूसरा नाम मूर्खता है ।”

सुदत्त—“मैं इसे मानने के लिए तैयार नहीं हूँ ।”

सुदेव—“यदि पतंजलि इसे मान लें तो तुम मानोगे या नहीं ?”

सुदत्त—“मैं क्या मेरे सात पुरुष भी मान लेंगे किन्तु पतंजलि माने तब, न ?”

सुदेव—“चलो, इसी समय चलो । मैं तुम्हें प्रत्यक्ष कराता हूँ कि वे किस प्रकार मानते हैं ?”

सुदत्त—“यदि इस समय तुम उनके समीप जाओगे तो तुम्हारा अन्तिम सुधार हो जायगा ।”

सुदेव—“उसका प्रसाद तुम्हें भी मिलेगा । यों ही अछूते नहीं रह जाओगे ।”

इस प्रकार बातें करते हुए दोनों पतंजलि के यहाँ फिर चले गये । वहाँ जाकर देखते हैं कि स्थान रिक्त पड़ा है । पता लगाने पर विदित हुआ कि पतंजलि सेनापति पुष्यमित्र के निवास-स्थान को गये हुए हैं । क्यों गये ? इस जिज्ञासा को लेकर सुदेव और सुदत्त सेना-निवास स्थित सेनापति के निवास-स्थान को चलने के निमित्त कटिबद्ध हो गये ।

सुदेव ने सुदत्त से कहा, “मैं चाहता हूँ कि पतंजलि के विरुद्ध राजद्रोह का एक नया अभियोग प्रस्तुत करूँ । जब से

यह पाटलिपुत्र में आया है तब से कोई न कोई उपद्रव नित्य होता रहता है। गुप्तचर होने पर भी हम दोनों को यह पतंजलि मूर्ख बना देता है। आज समझ में आ गया कि सेनापति की सहायता से यह पाटलिपुत्र में स्थान बनाये हुए है। व्याकरण का महाभाष्य इसका एक पाषंड मात्र है।”

सुदत्त ने सुदेव को उत्तर देते हुए कहा, “इतने दिनों के बाद ज्ञान के मार्ग पर आये। परमात्मा को धन्यवाद है कि अदूरदर्शिता का दूसरा नाम मूर्खता है यह सिद्ध न हो सका।”

सुदेव ने कहा, “किन्तु यह तो सिद्ध हो गया कि सिद्ध करनेवाला ही असिद्ध हो गया।”

सुदत्त ने कहा, “तो फिर चलकर गुप्तचर विभाग में इसे भी प्रसिद्ध कर देना चाहिए।”

सुदेव—“ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सुनेत्रा को भद्रसेन की पुत्री के रूप में प्रसिद्ध किया गया है।”

अपने विश्वासपात्र अनुचर को बुलाकर सेनापति पुष्यमित्र ने कहा, “आज अपराह्न बेला में सेना-निवास के प्रांगण में एक महोत्सव होगा। हमारे लिए सौभाग्य का विषय है कि मौर्यराज बृहद्रथ उस महोत्सव में सम्मिलित होने की इच्छा से पधारने वाले हैं। अतएव तुम्हारे लिए मेरा आदेश है कि शीघ्रातिशीघ्र

सेनानिवास के प्रत्येक पदाधिकारी को विज्ञापित कर आओ कि सेनापति पुष्यमित्र ने उन सबको तथा उनके अधीनस्थ समस्त विभागों के सैनिकों को उपस्थित होने की आज्ञा दी है। अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित होकर समरांगण में जाने के समान सभी तुरन्त उपस्थित हों। इस समय विलम्ब करने का अपराध अक्षम्य होगा।”

सेनापति के इस आदेश का पालन करने के लिए वह अनुचर वायुवेग से प्रस्थान कर गया। थोड़े से समय में ही पत्य-ध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष, रथाध्यक्ष तथा हस्त्यध्यक्ष आकर यथोचित सम्मान प्रदर्शित करते हुए सेनापति के आदेश की प्रतीक्षा करने लगे। उन सबों से कुछ दूरी पर पत्तिपाल, गुल्मक, शतानीक, अनुशतिक, रक्षक तथा लेखकों का बृन्द शान्त भाव से तपस्वियों की भाँति दण्डायमान था। उनसे कुछ दूरी पर पदातिक, अश्वारोही तथा गजारोही सैनिक उपस्थित थे। अवशिष्ट जितने पदाधिकारी या सैनिक रह गये थे वे भी तुरन्त आ पहुँचे।

उन सब के उपस्थित हो जाने पर सेनापति पुष्यमित्र ने आदेश किया, “अतिरथ, महारथ, रथी, अर्द्धरथ तथा एकरथ—ये सब एक पंक्ति में योग्यता के क्रम से पार्श्व में स्थित हों।”

तुरन्त इस आदेश का पालन किया गया। सेनापति का दूसरा आदेश हुआ, “हस्तिचालक तथा अश्वचालुक अपने अपने अश्व तथा हस्ती के पास जाकर खड़े हों।”

बात की बात में वे सब अपने अपने घोड़े तथा हाथी के पास पहुँच गये। तीसरा आदेश हुआ, “नायक तथा उपनायक

अपने सैनिकों की पंक्तियाँ ठीक करें।”

जिस प्रकार यंत्र कार्य करता है उसी प्रकार नायक तथा उपनायक कार्य करने लगे। सेनापति का चौथा आदेश हुआ, “अतिरथ से लेकर एकरथ तक अपने रथों में आरोहण करें।”

वे सब अपने रथों में जाकर बैठ गये। पाँचवा आदेश हुआ, “सन्देश वाहक तथा दौवारिक एक पार्श्व में हो जायँ।”

वे सब एक किनारे खड़े हो गये। छठा आदेश हुआ, “पताका वाही, मुख्य भाट, मुख्य गायक, मुख्य विरुदगायक तथा वाद्यवादक नियमानुसार अपना कार्य प्रारम्भ कर दें।”

उन सबों ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। सातवाँ आदेश हुआ, “सैनिक नियमानुसार पंक्तिवद्ध होकर समस्त पाटलिपुत्र के राजमार्गों पर चलते हुए राजप्रासाद की परिक्रमा करके लौट आओ।

“नगर भर में मौर्यराज बृहद्रथ की जय घोषणा होनी चाहिए और सेनापति पुष्यमित्र को सेनापतित्व से च्युत करके मौर्यराज बृहद्रथ स्वयं सेनापति का पद ग्रहण करने वाले हैं इसका भी विज्ञापन अपराह्न वेला के समय को बतलाते हुए होना चाहिए।

“नगर-निवासियों से आज के इस पद-त्याग, तथा पद-ग्रहण के महोत्सव में सम्मिलित होने का आग्रह विशेष रूप से करना होगा जिससे कि कोई अनुपस्थित न हो। मुख्य भाट का यह कर्तव्य होने पर भी इसमें सभी को समान रूप से योग देना होगा।

“आज का यह महोत्सव मौर्यराज बृहद्रथ तथा सेनापति पुष्यमित्र के लिए जीवन और मरण का महोत्सव है। आज सेनापति पुष्यमित्र को या तो राज्याधिकार प्राप्त होगा या स्वर्गाधिकार प्राप्त होगा।

“मेरे प्रिय सहायको ! मुझमें जितनी शक्ति है वह सब तुम्हारी ही दी हुई है। इस शक्ति का गौरव तुम्हारा ही गौरव है। इस शक्ति का अभिमान तुम्हारा अभिमान है। इस शक्ति का राज्याधिकार तुम्हारा ही राज्याधिकार है। इस शक्ति का अपना जो कुछ है वह सब तुम्हारा ही है।”

सेनापति पुष्यमित्र जब इस प्रकार कह रहा था तब सेना-नायक तथा सैनिक ध्यानपूर्वक सब बातों को सुनने लगे। इतने में सन्देश-वाहक ने आकर सूचित किया, “व्याकरण के महा-भाष्यकार पतंजलि आये हुए हैं। उन्हें प्रतीक्षा करते हुए अधिक समय व्यतीत हो चुका है।”

सेनापति पुष्यमित्र ने आदेश किया, “प्रस्थान का आदेश पालन किया जाय।”

इतना आदेश दे चुकने के बाद सेनापति पुष्यमित्र पतंजलि के समीप आकर कहने लगा, “मुझे यह जानकर अत्यधिक दुःख हुआ कि आप विलम्ब से मेरे लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। आशा है कि आप इस अपराध के लिए मुझे क्षमा करेंगे। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि आपके श्री चरणों के आशीर्वाद से जिसके लिए जो कार्य निश्चित किया गया था उसने उस कार्य को पूर्ण सफलता के साथ समाप्त किया है।

अब तो केवल मेरा ही कार्य शेष रह गया है। यदि परमात्मा अनुकूल है और जनता तथा सैनिकों की सद्भावना मेरे साथ है तो मैं आशा करता हूँ कि आपके शुभाशीर्वाद से सफलता मेरे ही अनुकूल रहेगी।”

पुण्यमित्र की बातों को सुनकर पतंजलि ने कहा, “जिसमें सत्य का अंश होगा, जो राजधर्म की मर्यादा सुरक्षित रखेगा, जो मानव धर्म के अपनाने में ही अपना गौरव समझेगा तथा जिसमें अपने देश के प्रति अगाध प्रेम होगा उसी पर परमात्मा की विशेष कृपा रहती है, वही जनता का प्रियपात्र बन जाता है और उसी के लिए वाणी से शुभाशीर्वाद भी निकल आते हैं। ऐसी दशा में यदि सफलता उसके अनुकूल होती है तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।”

पुण्यमित्र—“यह आपकी कल्पना है अथवा वेदों का सिद्धान्त है?”

पतंजलि—“वेदों में है क्या नहीं? राजधर्म, मानवधर्म तथा देशभक्ति सभी के लिए तो उनमें मंत्र पाये जाते हैं। अथर्व वेद के द्वादश काण्ड के पृथिवी सूक्त में देशभक्ति के मंत्र अनेक हैं। यदि सुनने की इच्छा हो तो उनका अर्थ भाषा में समझा दूँ।”

पुण्यमित्र—“यदि आपके पास समयभाव न हो तो।”

पतंजलि—“मैं केवल पाँच मंत्रों का अर्थ समझाता हूँ:—

पृथिवी से अभिप्राय है मातृभूमि का। उसी को सम्बोधित करते हुए मंत्रों में कहा गया है—

‘हे पृथिवि या मातृभूमि ! जो हम लोग तुझसे उत्पन्न हो

तेरे ही आधार से अपने सब काम करते हैं, जो तू सम्पूर्ण पशु-पक्षियों मनुष्यों और अन्य प्राणियों को आधार देकर पालन-पोषण करती है, हमारे जिस जीवन के लिए यह प्रकाशमान सूर्य अपनी अमृतमयी किरणों को सभी दिशाओं में विस्तृत करता है, वे हम पाँच प्रकार के मनुष्य तेरी सेवा करने की इच्छा रखते हैं।

“मैं अपनी मातृभूमि के निमित्त तथा उसके दुःख निवारण के अर्थ सब प्रकार के कष्ट सहन करने के लिए प्रस्तुत हूँ। वे कष्ट चाहे जिस दिशा से आयें और चाहे जिस समय हों, मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं है।

“देश में जहाँ जहाँ ग्राम, वन, सभा, संग्राम, समितियाँ हों वहाँ-वहाँ हे मातृभूमि ! हम तेरी मुक्त कंठ से प्रशंसा करें।

“अपने देश अथवा मातृभूमि के संबंध में जो कहता हूँ वह उसके लिए हितकर है। जो देखता हूँ वह उसकी सहायता के लिए है। प्रकाशमान तेजस्वी और बुद्धिमान होकर मैं मातृभूमि का दोहन करने वाले शत्रुओं का नाश करता हूँ।

“हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिमान कर और तेरे सम्बन्ध में प्रति-दिन चिन्ता करनेवाले, सूक्ष्म विचारवाले तथा दूरदर्शी मनुष्यों को और मुझे भूमिगत सम्पत्ति को प्राप्त करा देने वाली हों।

देखा, पुण्यमित्र ! वेदों के मंत्रों में कितना आकर्षक चमत्कार है। क्या शेष रहा ? मेरी समझ में तो वे सभी बातें आगई जिनको न समझ सकने के कारण हम सब मानव इधर उधर टकराते रहते हैं।”

पतंजलि के इन सब वैदिक प्रसङ्गों को सुनकर पुष्यमित्र ने कहा — “यद्यपि आप का यह कथन सत्य है तथापि साधारण जनता इतना ज्ञान किस प्रकार प्राप्त कर सकती है ? उसके लिए तो ज्ञान का यह प्रकाश-पूर्ण चमत्कार एक रूखा विषय छोड़कर और कुछ नहीं है।”

प्रसंग की शृंखला को तोड़ते हुए पतंजलि ने कहा, “मैं पाटलिपुत्र छोड़ने का विचार कर रहा हूँ। राजनीति की अव्यवस्था के कारण मेरे महाभाष्य की गति मंथर होने लगी है। यहाँ से तो मैं अपने मध्य भारत के गोनर्द नगर में अधिक कार्य कर लिया करता था। मैंने तो यह अनुमान किया था कि मगध साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर पाटलिपुत्र में आने वाले प्रतिभाशाली विद्वानों का जिस प्रकार सम्राट् अशोक उचित सम्मान किया करता था उसी प्रकार उसके उत्तराधिकारी भी करते होंगे। खेद है कि सम्राट् अशोक के नाम में कलंक लगानेवाले यही सब अयोग्य, अविद्वान् तथा अधर्मी शासक हैं। यहाँ का समस्त वातावरण ही दूषित हो चुका है। दिन दिन यहाँ के लिए संकटकाल समीप चला आ रहा है। अतएव, मैंने इस अधर्मी मौर्यराज बृहद्रथ के नगर को ही त्याग देना उचित समझा है। यहाँ मैं अधिक दुःखी हूँ।”

इतने में वहाँ सुदेव और सुदत्त आ पहुँचे। सेनापति पुष्यमित्र का उचित सम्मान करते हुए उन दोनों ने गुप्तचर के रूप में अपना परिचय दिया। उनका गुप्तचर होना ही उनके लिए अहितकर हो गया। सेनापति पुष्यमित्र ने क्रोध करते हुए

कहा, “विना आज्ञा प्राप्त किये तुम दोनों यहाँ क्यों आये ?”

सुदेव ने गिड़गिड़ाते हुए कहा, “मेरे लिए राजा की आज्ञा ऐसी ही है।”

उसी प्रकार सुदत्त ने भी कहा, “गुप्तचरों का प्रवेशाधिकार सर्वत्र रहता है।”

पतंजलि ने साधारण ढंग से कहा, “राजनीति की व्याकरण में विसर्ग का स्थान इन्हीं को प्राप्त है। जिस अक्षर से विसर्ग का सम्बन्ध हो जाता है उसका रूपान्तर ही समाप्त हो जाता है। जिस राजा के ऐसे गुप्तचर होंगे उस राजा का अन्त अनिवार्य है। जो व्याकरण से सिद्ध है वह ईश्वर द्वारा भी सिद्ध है। विसर्ग स्थानीय इन दोनों विन्दुओं को मैं नमस्कार करता हूँ।”

पुण्यमित्र ने पतंजलि से कहा, “मैं सैनिक नियमानुसार इन्हें दंड प्रदान करूँगा।”

पतंजलि ने कहा, “स्वरो में “अ” का सम्बन्ध जैसे ही विसर्ग से हुआ कि स्वरो का नाम तथा काम अन्त को प्राप्त हो गया। इसका उच्चारण भी होता है “अह” अर्थात् स्वरो का आदि और व्यंजनों का अंत सभी इसी विसर्ग से है। जिसे अपना लोक तथा परलोक दोनों ही समाप्त करना हो वह ऐसे विसर्गों का सम्बन्ध अपने से स्थापित करे। ये विसर्ग जहाँ कहीं भी होंगे वहीं दुःख बढ़ाने के कारण बन जायेंगे। व्याकरण में जहाँ विसर्ग-संधि का प्रसंग है वहाँ भी कठिनाई का ही सामना करना पड़ता है। कहीं विसर्ग “र” का रूप धारण करता है और कहीं “स्” का। कहीं ओकार बनकर

परवर्ती “अ” के स्वरूप को ही बिगाड़ देता है और कहीं कोई रूप ही नहीं रखता । ऐसा यह विसर्ग का प्रसंग है । संधि में भी ये एक प्रकार की उद्दण्डता ही प्रदर्शित करते हैं । व्याकरण में यदि कभी कोई मतभेद उत्पन्न हुआ तो विसर्ग के ही कारण । विसर्ग का ज्ञान और विसर्ग का प्रयोग अत्यधिक कठिन है । मूर्ख बृहद्रथ इन विसर्गों का प्रयोग उचित रीति से नहीं कर सका । परिणाम यह होगा कि सुदेव और सुदत्त को प्राण-घातिका* की शरण लेनी होगी और बृहद्रथ के शरीर की भी दुर्दशा होगी फिर भी कोई उसका नाम न लेगा । विसर्ग का दोष अमिट है ।”

सुदेव ने दुःख प्रकट करते हुए पतंजलि से कहा, “कदाचित् व्याकरण से मानव जीवन का इतना ही सम्बन्ध है और इस समय का यह भाष्य हम दोनों के जीवन का विसर्ग भाष्य है । यदि इस प्रकार के दो चार व्याकरण महाभाष्यकार अवतार ग्रहण कर लें तो फिर हम जैसे विसर्गों का कहीं भी चिह्न तक न प्राप्त होगा । सभी बिना संधि के ही स्वर्ग सिधार जायेंगे । प्राणघातिका की शरण में मुझे चिर शान्ति प्राप्त होगी किन्तु आपका व्याकरण बिना विसर्ग के संस्कृत वाणी को कैसे प्राप्त करेगा ?”

— — —

* प्राणघातिका—फाँसी

सेनानिवास में होने वाले महोत्सव का विज्ञापन पाटलिपुत्र में सफल रहा। प्रधान मंत्री, प्राड्विवाक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता, प्रदेष्टा, व्यावहारिक सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल और अन्तपाल आदि पदाधिकारी राजप्रासाद में एकत्रित होकर मौर्यराज बृहद्रथ से क्रमशः कहने लगे।

सर्वप्रथम प्रधानमंत्री ने कहा, “क्या यह सत्य है कि श्रीमान आज अपराह्न बेला में सेनापति को पदच्युत करने के अभिप्राय से सेनानिवास जानेवाले हैं? यदि यह सत्य है तो प्रधानमंत्री के कर्तव्य को दृष्टि में रखते हुए मैं निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रधानमंत्री से परामर्श किये बिना राजा को राज्य सम्बन्धी कोई कार्य नहीं करना चाहिए। राजनीति के विरुद्ध कार्य करने वाले राजा का अनिष्ट शीघ्र होता है। मैं ऐसे अनिष्ट से, श्रीमान् की रक्षा करना चाहता हूँ।”

प्रधानमंत्री का समर्थन करते हुए प्राड्विवाक ने कहा, “सेना का इस प्रकार पाटलिपुत्र में परिभ्रमण करना यह सूचित करता है कि सेनापति पुष्यमित्र का आदेश सेना अब भी उसी प्रकार मान रही है जिस प्रकार नित्य माना करती थी। सेनापति के पद से च्युत किया जाने वाला पुष्यमित्र तथा उसकी संचालित सेना में पारस्परिक प्रभावों का कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि मेरा अनुमान सत्य है तो उचित यही

होगा कि श्रीमान, पुण्यमित्र को ही यहाँ पर उपस्थित होने का आदेश-पत्र निकाल दें। राजाज्ञा का यदि वह उल्लंघन करेगा तो राजद्रोह के अपराध में प्राण-दंड उसके लिए निश्चित है। राजनीति के अनुसार आप के सभी कार्य होने चाहिए।”

इसी प्रकार सभी ने कहा। उन सब के कथन को सुनकर मौर्यराज बृहद्रथ ने अभिमान के साथ कहा, “मैं अपने कतव्य का पालन करना भली भाँति जानता हूँ। पाटलिपुत्र में जितने राजकर्मचारी तथा अध्यक्ष हैं उनके लिए मेरी आज्ञा है कि वे सब सेना-निवास में तुरन्त जाकर उपस्थित हों और राजा के सम्मिलित होने वाले उत्सव तथा स्थान जिस प्रकार सुसज्जित किये जाते हैं उसी प्रकार सेनानिवास का प्रांगण भी सुसज्जित कराया जाय। आप जितन पदाधिकारी यहाँ पर उपस्थित हैं उनके लिए मेरा आदेश है कि जिस समय मैं राजप्रासाद से सेनानिवास के लिए प्रस्थान करूँ उस समय सभी मेरे साथ रहें। मेरा आदेश प्रशास्ता के लिए यह है कि पाटलिपुत्र के स्त्री पुरुष तथा बालक, धनी तथा निर्धन, प्रत्येक प्रकार के व्यवसायी सभी का सेनानिवास में उपस्थित होने के लिए राजाज्ञा का होना घोषित करा दें और यह भी घोषित करा दें कि जो व्यक्ति वहाँ पर उपस्थित न होगा उस पर राजद्रोह का अपराध समझकर अभियोग चलाया जायगा।”

मौर्यराज बृहद्रथ के इस आदेश का पालन करने के लिए प्रशास्ता चला गया। उसके जाने के बाद प्रधानमंत्री, प्राङ्ग्विवाक आदि भी अपने अपने भवन को चले गये। उन सबों के जाते

ही बृहद्रथ एकान्त में जाकर सोचने लगा, “जीवन को अभीष्ट और मरण को अनिष्ट समझने वाले अपने को ज्ञानी समझे हुए हैं। इन सबके अनुसार यदि मेरा अनिष्ट हुआ तो सेनापति को अभीष्ट अवश्य प्राप्त होगा। अनिष्ट और अभीष्ट को लेकर ही सारा संसार चल रहा है। संसार की गति कौन रोक सका है ? राजनीति एक किनारे पड़ी रह गई, धर्मनीति गंगा के तट पर माला जपती ही रही किन्तु न गंगा का प्रवाह रुका और न संसार की गति रुकी।”

इस प्रकार विचार करता हुआ बृहद्रथ विलम्ब तक बैठा रहा। इसके पश्चात् सेना-निवास जाने की तैयारी करने लगा। राज-मुकुट के अभाव में वह राजसी वस्त्रों को धारण न कर सका। यथासमय साथ चलने वाले प्रधान मंत्री आदि आ गये। उन सब के आते ही एक सुन्दर सुसज्जित रथ पर वह बैठ गया। प्रधान मंत्री आदि हस्ती पर आरूढ़ हुए। यथानियम पंक्तिबद्ध होकर यात्रा की गई। थोड़े से समय में ही सेना-निवास में मौर्यराज बृहद्रथ उपस्थित हो गये।”

सेनापति पुष्यमित्र ने हार्दिक स्वागत किया और अपने विश्राम-भवन में ले जाकर आदर के सहित बैठाया। पत्रं, पुष्पं, फलं, तोयं जो कुछ उसके यहाँ था सब कुछ लाकर उपस्थित किया। उसकी सज्जनता से मुग्ध होकर मौर्यराज बृहद्रथ ने कहा, “पुष्यमित्र ! निस्सन्देह तुम केवल सेनापति हाने के ही योग्य नहीं थे। तुम्हारा व्यवहार प्रमाणित करता है कि तुममें वे सब सद्गुण वर्तमान हैं जिनका होना शासक के लिए

आवश्यक है।”

शिष्टाचारपूर्ण शब्दों में उत्तर देता हुआ पुण्यमित्र बोला, “ब्राह्मणत्व इसीको कहते हैं। यदि मैं इस प्रकार आप से न मिलूँ तो समझ लेना चाहिए कि मुझमें ब्राह्मणत्व का अभाव है। यह ब्राह्मणत्व ऐसा है जो अभ्यास से प्राप्त होता है। ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य तथा शूद्र सभी का समान अधिकार इस ब्राह्मणत्व में है। ब्राह्मणत्व का प्रभाव ही वास्तव में मानव-समाज का विकास है तथा ब्राह्मणत्व का अभाव ही मानव-समाज के ह्रास का कारण है।

“पृथिवी मंडल के जिस गोलार्ध में यह ब्राह्मणत्व सूर्य के समान प्रकाशमान होता है वही गोलार्ध राजधर्म तथा मानव धर्म की रक्षा कर सकता है। रक्षा का कार्य कर सकने वाला ही राष्ट्र, समाज या वंश संसार का शासक बन जाता है वास्तव में शासक किसी व्यक्ति का नाम नहीं है।

“शासन करने की शक्ति जिसमें होती है वह शासक बन जाता है अतएव यह शासक शब्द शक्ति-पूर्णता का परिचायक मात्र है। इसलिए शासक ईश्वर का अंश माना गया है। जब ईश्वर का यह अंश किसी प्रतापी पुरुष से पृथक् हो जाता है तब उसके पास न सेना रहती है और न सेना का भार रहता है। उसकी दशा ठीक मेरी दशा के समान हो जाती है।”

इतने में प्रबन्धक ने आकर सूचित किया, “महोत्सव के लिए प्रबन्ध का जितना कार्य था वह सब समाप्त कर दिया गया है। रत्नों की नियुक्ति प्रत्येक स्थान पर की जा चुकी है। जन-

समुदाय का आगमन होने लगा है। उचित आज्ञा के लिए सेवक प्रतीक्षा कर रहा हूँ।”

बीस हजार पण निकालकर प्रबन्धक को देते हुए पुष्यमित्र ने कहा, “मौर्यराज बृहद्रथ के शुभागमन-महोत्सव के उपलक्ष्य में मिष्टान्न वितरण के लिए मैं अपने पास से इतना दे रहा हूँ। आज का यह दिवस मेरे लिए महान् त्याग तथा महान् ग्रहण का दिवस है। जितना महान् त्याग होगा उतना ही महान् ग्रहण भी होगा। त्याग और ग्रहण दोनों ही राजलक्ष्मी की कृपा पर अवलम्बित हैं। चाहे वह किसी को जीवन प्रदान करें, चाहे किसी को मृत्यु का अभिशाप दे। यह सब उसी चंचला की लीला है। जैसा चाहती है, वैसा ही नचाती है और बाध्य होकर हमें नाचना भी पड़ता है।”

इतने में उपसेनापति ने आकर निवेदन किया, “महोत्सव के मंडप में राजलक्ष्मी का शुभागमन हो चुका है। यदि उनके हाथ में राजमुकुट और खड्ग न होता तो मैं पहिचान भी न सकता। आते ही उन्होंने सभानेत्री का आसन ग्रहण कर लिया है। उपशान्ता, सुमना, सुनन्दा तथा सुनेत्रा नाम की कुछ युवतियाँ भी आई हुई हैं, वे भी राजलक्ष्मी के आस-पास विराजमान हो चुकी हैं। जनता की उपस्थिति आवश्यकता से अधिक हो चुकी है। पाटलिपुत्र के गण्यमान्य सभी प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित हैं। समस्त सेना भोजनादि से निवृत्त होकर प्रांगण में आ चुकी है। आप सब महानुभावों के लिए उपयुक्त स्थान रिक्त रखा गया है और मध्य भाग में क्रीड़ा-प्रदर्शन के हेतु एक

रज्जु लम्बा-चौड़ा स्थान छोड़ दिया गया है। यदि आप सब महानुभाव श्री मान् मौर्य नरेश के सहित पधारने की कृपा करें तो अधिक आनन्द का विषय होगा।”

यथाक्रम उठकर सभी खड़े हुए। मौर्यराज बृहद्रथ भी चलने को तैयार हुए। क्षण भर में सब अपने अपने स्थान पर आसीन होगये। उन सब क आसन पर बैठते ही चन्द्रमित्रा ने क्रीड़ा-प्रदर्शन के लिए संकेत किया। तुरन्त क्रीड़ा-प्रदर्शन का कार्य क्रम जनता का मनोरंजन करने लगा।

क्रीड़ा प्रदर्शन का कार्यक्रम समाप्त होते ही चन्द्रमित्रा ने उपस्थित जनता से कहा, “पश्चिमोत्तर भारत पर यवनों के आक्रमण होने लगे हैं। पांचाल प्रांत उनके आक्रमणों से संकटापन्न हो चुका है। मथुरा और माध्यमिका* के निवासी भी संकटापन्न हो रहे हैं। साकेत† निवासियों को भी इस बात की सूचना प्राप्त हुई है कि यवन आक्रमणकारी यथाशीघ्र आक्रमण करने वाले हैं। मगध भी उनके आक्रमण से नहीं बच सकेगा। मैं यह जानना चाहती हूँ कि आप मगध का विनाश चाहते हैं या मगध की रक्षा चाहते हैं।”

उपस्थित जनता ने समस्वर से कहा, “हम मगध की रक्षा चाहते हैं। विनाश नहीं चाहते।”

“युद्ध में अहिंसा धर्म की रक्षा किस प्रकार की जाती है इसका ज्ञान राजा में होना आवश्यक है। मैं मौर्यराज बृहद्रथ

*माध्यमिका—यह स्थान चित्तौड़ के समीप था।

† साकेत—अध्योद्धा।

से प्रार्थना करती हूँ कि वे इसे आप लोगों की भली भाँति समझा दें।” चन्द्रमित्रा ने कहा।

बृहद्रथ ने संकोच करते हुए कहा, “मैं इस प्रकार के ज्ञान से शून्य हूँ।”

चन्द्रमित्रा ने पुष्यमित्र से कहा, “सूत्र रूप में आप समझाने का कष्ट स्वीकार करें।”

पुष्यमित्र ने नम्रता के साथ कहा, “यदि हम समान रूप से प्रजा के हित-साधन में अपना तन मन अर्पण कर चुके हैं और प्रजा के लिए ही युद्ध करते हैं तो हम पर हिंसा का पाप नहीं लगेगा।”

चन्द्रमित्रा ने बृहद्रथ से प्रश्न किया, “आप समझ कर उत्तर दें कि यह मान्य है या नहीं?”

बृहद्रथ ने कहा, “ऐसा राजनीति-पूर्ण सिद्धान्त अवश्यमेव मान्य है।”

चन्द्रमित्रा ने जनता से कहा, “ज्ञानबल में पुष्यमित्र बृहद्रथ से श्रेष्ठ हुआ या नहीं?”

समस्वर से जनता बोल उठी, “पुष्यमित्र की श्रेष्ठता हम स्वीकार करते हैं।”

चन्द्रमित्रा ने बृहद्रथ और पुष्यमित्र से कहा, “क्रीड़ा-प्रदर्शन के स्थल पर आप दोनों जाकर खड्ग धारण करें। बाहुबल की परीक्षा में जो उत्तीर्ण होगा उसी को यह राजमुकुट दिया जायगा। जनता या अभ्यक्ष वर्ग! जिसे इस निर्णय में आपत्ति हो वह विरोध करे।”

किसी ने भी विरोध न किया। सेनापति पुण्यमित्र और मौर्यराज बृहद्रथ दोनों ही रंग-भूमि में पहुँच गये। थोड़े से अस्त्र प्रयोगों की कला का प्रदर्शन होता रहा। बाद में सेनापति पुण्यमित्र ने मौर्यराज बृहद्रथ से कहा, “सेनापति का पद सेनापति को समाप्त करने पर ही पा सकेंगे इसलिए मुझ पर मेरा बघ करने के अभिप्राय से आक्रमण कीजिए।”

बृहद्रथ ने वैसा ही किया। अपने को बचाते हुए सेनापति पुण्यमित्र ने कहा, “अब मैं आक्रमण करता हूँ। आप अपनी रक्षा कीजिए। शस्त्र और शास्त्र का प्रयोग करनेवाला ही राजा होता है।”

इतना कहकर उसने खड्ग से उसके मस्तक को शरीर से भिन्न कर दिया और शान्त भाव से अपने स्थान पर आकर बैठ गया। दृश्य बड़ा ही मार्मिक हो चुका था। सशस्त्र सैनिकों ने परिस्थिति को अव्यवस्थित नहीं होने दिया। सभी इच्छा से या भय से अपने स्थान पर बैठे रहे। पतंजलि जो कि उस समय वहाँ उपस्थित थे, शान्ति के साथ अश्रुपात करने लगे। सेनापति पुण्यमित्र की प्रसन्नता क्षण भर के लिए जाती रही। उसका भी मस्तक नत हो चुका था।

चन्द्रमित्रा ने उपस्थित जनता से कहा, “आत्मा अजर अमर है। नाश केवल शरीर का होता है। राजनीति में ऐसे प्रसंग नित्य होते हैं। अब आप इस प्रसंग से अपने चित्त को हटा दीजिए और यह बतलाइए कि राजमुकुट पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार पुण्यमित्र को देना उचित है या नहीं? स्मरण रहे कि

बृहद्रथ की यह दशा उसके राजकार्य में दुर्बल प्रतिज्ञ होने के कारण ही हुई है। यदि आप सब उपस्थित महानुभाव दुर्बल-प्रतिज्ञ होंगे तो पाटलिपुत्र का नाश हो जायगा।”

सभी ने समस्वर से कहा, “हम पुष्यमित्र को अपना राजा होना स्वीकार करते हैं।”

प्रधान मंत्री ने कहा, “सनातन से ही यह नियम चला आ रहा है कि राजधर्म शक्ति का उपासक है। हम इसी में प्रसन्न हैं कि अब योग्य शक्ति-सम्पन्न राजा की छत्रच्छाया में इस राज्य का विकास हो सकेगा।”

प्रधान मंत्री की बातों को सुनकर प्राड्विवाक ने कहा, “यदि जनता यह विश्वास करती है कि सेनापति पुष्यमित्र को राजमुकुट देने से मगध की राजलक्ष्मी को प्रसन्न किया जाना संभव है तो मैं सहर्ष सम्मति प्रदान करता हूँ कि यह कार्य शीघ्र ही होना चाहिए।”

प्रशास्ता ने कहा, “पुरुष में जब पूर्ण शक्ति का अभ्युदय होने लगता है तब राज-धर्म और मानव-धर्म स्वतः उसकी शरण में आने की इच्छा करने लगते हैं। इन दोनों धर्मों की जो रक्षा करता हुआ उचित मर्यादा को व्यवस्थित कर सकता है, उसी पुरुष से राजलक्ष्मी प्रसन्न हो सकती हैं। सेनापति पुष्यमित्र में ये सब शुभ लक्षण स्वभाव से ही वर्तमान हैं। ऐसी दशा में पुष्यमित्र को राजा स्वीकार करने में ही मगध का सौभाग्य है।”

इसी प्रकार समाहर्ता, प्रदेष्टा, व्यावहारिक सभाध्यक्ष,

दण्डपाल, दुर्गपाल और अन्तपाल आदि पदाधिकारियों ने क्रमशः उक्त प्रस्ताव के समर्थन में अपने अपने विचार प्रकट किये। उन सब के पश्चात् पतंजलि ने सूत्र रूप में कहा, “शुभस्य शीघ्रम्।”

“जब समस्त उपस्थित महानुभावों की सम्मति सम है तब राजमुकुट पुष्यमित्र को पहिना देना चाहिए।” इतना कहकर चन्द्रमित्रा ने पुष्यमित्र को राजमुकुट पहिना दिया।



